नेहरूजी की मनोभूमि

[The Mind of Mr. Nehru का हिन्दी अनुवाद]

आर. के. करंजिया

प्रस्तावना :
राधाकृष्णन

दि बुक सेंटर प्रायवेट लिमिटेड
बम्बई २८

प्रथम प्रकाशन : १४ नवंबर १९६०

प्रकाशक : कृ. रा. सामंत, दि बुक सेंटर प्रायवेट लिमिटेड, रानडे रोड, बम्बई २८
मुद्रक : वि. पु. भागवत, मौज प्रिंटिंग ब्यूरो, खटाववाडी, गिरगांव, बम्बई ४

प्रस्तावना के दो शब्द

इन मुलाकातों में आज राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं के प्रति हमारे युग के एक महान विचारक के दृष्टिकोण का समावेश किया गया है।

हमारे प्रधान मन्त्री हालाँकि शब्दों के संकीर्ण अर्थ में धार्मिक और रूढ़िवादी नहीं है; लेकिन सत्यता और सहानुभूति के आध्यात्मिक मूल्यों में उनकी परम निष्ठा है।

—राधाकृष्णन

अनुक्रमणिका

प्रवेश

नेहरू जी को केवल उनके व्यक्तित्व से ही समझा जा सकता है। इसलिए भविष्य में उनकी जीवनी लिखने की इच्छा से मैंने उनसे ये मुलाकातें लीं। स्वयं उनके द्वारा लिखा गया तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखे गये नेहरूजी से सम्बन्धित लगभग सभी उपलब्ध साहित्य को पढ़ने के बाद भी मुझे कई खामियाँ दिखाई दीं; इसलिए उन खामियों को उनके दार्शनिक तारतम्य में समुचित स्थानों पर रखने के उद्देश्य से मैंने उनसे अनेक सवालों, सन्देहों और आलोचनाओं के उत्तर प्राप्त किये हैं। नेहरूजी ने अनेक मुलाकातें देकर मुझे आभारी किया। कुछ मुलाकातें हम दोनों और कुछ एक 'तीसरे व्यक्ति' यानी टेप रिकार्डर के बीच हुई थीं। शायद इन लम्बी मुलाकातों में नेहरूजी की नवीनतम विचारधारा की अत्यन्त अधिकृत छाप लगी हुई है।

वास्तव में पहिले इन मुलाकातों को नेहरूजी की एक जीवनी लिखने की मेरी योजना की पृष्ठभूमि के रूप में लिया गया था। भारत और चीन के बीच संकट से उत्पन्न एक भारी चुनौती के अन्तर्गत तथा भारत तथा विदेशों में सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के सक्रिय हो उठने के फलस्वरूप उनके जीवन के संध्याकाल में राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उनका समस्त दर्शन और बुनियादी रवैया सामने आ गया है; इसलिए यह सामयिक और लाभप्रद होगा कि जिसे आम तौर पर नेहरू-नीति कहा जाता है, उसे संसार के सामने स्वयं उनके ही शब्दों में रखा जाय।

हाल ही में मेक्स लर्नर ने लिखा है कि 'उनके दीर्घकालीन, प्रतिभाशाली और संघर्षमय जीवन में शायद वह उनकी अत्यधिक खतरनाक घड़ी हो और शायद वह कसौटी पर सबसे खरी उतरे,' वास्तव में यह बात कितनी सच्ची है! और मेरे ख्याल से इन मुलाकातों का एक यही बड़ा महत्त्वपूर्ण पहलू है

कि प्रधान मन्त्रीजी को उनके लिए इस समय भी फुर्सत मिल गयी; जब कि चीनी फौजें हमारी सीमाओं पर बड़ी गंभीर और दर्दनाक घटनाएं करने में व्यस्त थीं। इन घटनाओं ने देश में उन भद्दी शक्तियों को, जो सभी सामन्तवादी और फासिस्ट तत्व थे, सम्प्रदायवादी, रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी थे, नेहरूजी के दर्शन और उनके नेतृत्व को एक महान चुनौती देने का संकेत किया। शायद प्रधान मन्त्री को और भारत की जनता को उनकी क्रांतिकारी सफलताओं के प्रति धोखा देने का इससे अधिक उपयुक्त समय और नहीं था।

आज़ादी के अल्प लेकिन जोशीले समय में भारत ने राष्ट्रीय और अन्तर राष्ट्रीय क्षेत्रों में अनेक कामयाबियाँ पायी हैं। धर्म-निरपेक्षता की ठोस नींव पर एक आज़ाद और लोकतांत्रिक गणतंत्र की स्थापना के बाद भारत की जनता ने समाजवाद की ओर आगे बढ़ना शुरू कर दिया है। पवित्र ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ अटूट सम्बन्ध जारी रखते हुए श्री नेहरू ने शान्ति के प्रति दृढ़ निष्ठा की पृष्ठभूमि में पंचशील के सिद्धान्त को भारत तथा अन्य राष्ट्रों के सामने पेश किया है। इस प्रकार तीसरे आम चुनाव और तीसरी योजना के पहले भारत अपनी भूतकालीन औपनिवेशिक जड़ अर्थ-व्यवस्था से निकलकर एक गतिशील आत्मविकसित अर्थ-व्यवस्था की ओर "बढ़ने" के लिए तैयार हो रहा है और इस तरह वह भूतकालीन भारी निहित तथ्यों में, बस आज-या-कभी-नहीं, विकल्प के आधार पर विरोध पैदा कर रहा है। इस सन्दर्भ में राष्ट्र की आजादी के बाद के इस अत्यन्त गंभीर काल में भारतीय प्रतिक्रियावादी लोग चीनी आक्रमण की घटना की ओट में नेहरू-नीति के खिलाफ ठीक समय पर विद्रोह करने में लगे हुए हैं।

इस चुनौती के लिए नेहरूजी के पास क्या जवाब है? हालाँकि हमारी मुलाकातों का यह बुनियादी उद्देश्य नहीं था; लेकिन माह दर माह संकट के समय जैसे जैसे मुलाकातें होती गयीं, इस बात की सामयिकता और महत्त्व बढ़ता गया। मेरे ख़्याल से भारतीय नीति के प्रति भविष्य में गद्दारी करने-वाले लोगों के लिए ये मुलाकातें निहायत खरा और करारा जवाब हैं। अपने पाठकों को समय और स्थान के विराट पटल से, महात्मा बुद्ध और अशोक से,

मार्क्स और गान्धीवाद तथा अणुयुग की सैर कराते हुए, कल के व्योममण्डलीय-यान और स्पुटनिक तक उन्होंने पंचशील के आधुनिक परिधान में सह-अस्तित्व और सार्वभौमिक समन्वय के प्राचीन हिन्दू सिद्धान्त को न केवल भूतकाल की एक अत्यन्त मूल्यवान ऐतिहासिक विरासत के रूप में, बल्कि आजकल के मसलों के सन्दर्भ में, एक अत्यन्त फायदेमन्द ऐतिहासिक अनिवार्य तथ्य के रूप में बताया है। उन्होंने यह भी बताया है कि भारत की यह बुनियादी नीति किसी निजी व्यक्ति की सनक या जनता की 'नीति' नहीं है; बल्कि भारतीय विचार, दर्शन, परम्परा, संस्कृति, इतिहास और भौगोलिक परिस्थितियों का तर्क है।

हमारी मुलाकातों के दौरान में कई बातें मैं इस असाधारण नेता के बारे में सोचे-बिना न रहा जो अपनी राजनीतिक क्रियाशीलता, एक आदर्श मानव-वादिता जिसका निर्माण प्रतीची और प्राची की उत्कृष्ट विचारधाराओं से हुआ है, और सार्वभौमिक समन्वय और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की प्रयोगशाला में कार्यरत एक दयावान रासायनिक के रूप में इतना विख्यात है। उनका दर्शन, जैसा कि इन मुलाकातों से पता चलता है, इस बात पर आधारित है कि इस आणविक युग में छोटे या बड़े, गर्म या शीत तथा मार्क्सवादी हिंसात्मक समाधान-युक्त वर्ग संघर्ष सहित सैद्धान्तिक संघर्ष, अब घातक और पुराने हो चुके हैं। प्रत्येक प्रकार की हिंसा अब पुरानी पड़ गयी है और संसार के सामने अब शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व या सम्पूर्ण विनाश का ही विकल्प रह गया है। राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय सैद्धान्तिक या भौतिक सभी मसलों और कठिनाइयों के हल के लिए अब सहनशीलता तथा परस्पर सहयोग की नई भावना की जरूरत है।

श्री नेहरू की कमजोरी इस बात में निहित है कि वे हमारे काल के महान-तम प्रयोगों के कार्यान्वय के लिए स्वयं अपने और अपने देश के लिए किसी प्रभावकारी मशीनरी की व्यवस्था करने में नाकामयाब रहे। उन्होंने अपनी इस मुलाकात में इस नाकामयाबी को कबूल किया है। भारतीय प्रधान मन्त्री को अक्सर मशीन-विहीन देवता गिना जाता है। लेकिन वे वास्तव में मशीनगन विहीन ईश्वर हैं। जो लोग उनकी नीति की उपयुक्तता को मानते हैं वे यह कहे बिना

नहीं रह पाते हैं कि उनके अधीन एक प्रभावहीन संगठन है : एक विविधमुखी कॉंग्रेस पार्टी है जो अलग-अलग दिशाओं की ओर जाती है : एक परम्परागत प्रशासनिक ढाँचा है जो पुरानी बातें ही सोचता है और एक सांस्थानिक लोकतंत्र है जो राष्ट्रीय उद्देश्यों की ओर आगे बढ़ने के बजाय पीछे की ओर भागता है।

इस कार्य को कामयाबी के साथ सिर्फ प्रगतिशील विचारवाले कॉंग्रेसी ही कर सकते हैं; जिन्हें भारतीय सन्दर्भ में नेहरूवादी कहा जा सकता है। लेकिन नेहरूवादी हैं कहाँ? और इस बात की भी क्या गारन्टी है कि नेहरूजी के न रहने पर नेहरू का दर्शन जीवित भी रहेगा ?

मेरा विश्वास है कि पहिली बार नेहरूजी से इन सवालों को किसी पत्रकार ने इतने ठेठ ढंग से पूछा है। उनके जवाब पाठकों के सामने विचार के लिए यहाँ पेश हैं। वे विनम्र भाव से इस सुझाव का खण्डन करते हैं कि "नेहरू नीति" जैसी कोई चीज है। वे अपने दर्शन और नीति को भारतीय विचार की ही देन मानते हैं। उनका कहना है कि यदि इसे किसी व्यक्ति के नाम से जोड़ना ही है, तो सिवा गान्धीजी के नाम को छोड़ कर किसी अन्य व्यक्ति के नाम से नहीं जोड़ा जा सकता है। अपने अनुयायियों के किसी दल या वर्ग की रचना करने की अपनी नाकामयाबी पर उनका कहना है कि वे सारे राष्ट्र और जनता को ऐतिहासिक भारतीय तरीके के बुद्धिमान, जागरूक और चैतन्य अभिभावकों की भूमि में परिवर्तित करने की कोशिश कर रहे हैं। शायद हमारी मुलाकातों में श्री नेहरू का यह अत्यन्त महान योग है। यही उनके बाद होनेवाले किसी विद्रोह के विरुद्ध अत्यन्त प्रभावशाली कवच भी है। संसदीय लोकतंत्र की मजबूत नींव के विद्यमान होने तथा एक स्वचालित अर्थ-व्यवस्था के लिए ईंधन मिलने के बाद उनका विश्वास है कि एक वैधानिक क्रान्ति के जरिए भारत में एक धर्म-निरपेक्ष, समाजवादी, लोकतांत्रिक, सहकारी समाज के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। उनका विश्वास है कि साव-धान और शिक्षित जनता पर, जो अपने अधिकारों तथा परम्परा के प्रति जागरूक है, किसी भी विद्रोह के खिलाफ एक शक्तिशाली ताक़त के रूप में विश्वास किया जा सकता है। नये चीन की कम्यूनों के लिए नेहरूजी का यह लोकतांत्रिक विकल्प है।

"नेहरू के बाद क्या ?" के इस तात्कालिक विवाद के बाद हमारी मुलाकात में हमारी पीढ़ी के एक उत्कृष्ट विचारक का मत, जो मानवजाति के सामने अन्तरिक्ष और विज्ञान से पैदा हुई समस्याओं से सम्बन्धित है, सामने आता है। इस दिशा में नेहरूजी की, एक दार्शनिक राजनीतिज्ञ के रूप में, श्रेष्ठतम विचारधारा का परिचय मिलता है।

आणविक युग तथा परमाणु शक्ति की शुरुआत से उन्हें संसार की समस्याओं के प्रति केवल भौतिक रुख के स्थान पर आध्यात्मिक और नैतिक रुख अपनाने की जरूरत महसूस होती है। एक समय के मार्क्सवादी और अपने आपको नास्तिक कबूल करने वाले व्यक्ति में इतना साफ परिवर्तन देखकर मैं इस हद तक चौंक उठा कि मैंने यह प्रश्न पूछा कि क्या वे अपने जीवन के संध्याकाल में ईश्वर की तलाश में है? उनके मस्तिष्क की इस स्थिति का विश्लेषण अभी विकसित हो रहा है और उसके औचित्य से मुझे काफी सन्तोष भी हुआ। वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के अनेक पहलू और असर होते हैं। काफी हद तक विकसित समुदायों में केवल आर्थिक और भौतिक प्रगति से ही जनता को एक सम्पूर्ण समन्वित जीवन नहीं मिल सका है। वहाँ पर आध्यात्मिक और नैतिक अभाव है। कुव्यवस्था और मानसिक रोग, मद्यपान तथा अपराध—सभी भौतिकवाद की देन हैं। मशीनों के स्वचालन तथा काम के घण्टे कम होने के फलस्वरूप अवकाश के समय को उपयोग में लेने की समस्या स्वयं ही बड़ी गंभीर बनती जा रही है। जैसे ही मनुष्य को अपनी इच्छित भौतिक चीजें मिल जाती हैं, तो उसकी अन्तरात्मा किसी आध्यात्मिक और नैतिक तत्व की खोज करने लगती है। ऐसी अवस्था में एक आध्यात्मिक शून्यता पैदा हो गयी है जिसके फलस्वरूप आज की तथाकथित क्षुब्ध युवा पीढ़ी का आविर्भाव हुआ है। श्री नेहरू इन समस्याओं के प्रति एक नया रुख अपनाने पर बल देते हैं और अपने को एक ऐसा मार्क्सवादी बताते हैं जो ईश्वर की तलाश में है और अपने इन प्रयत्नों में उन्हें न केवल अपने देश के बल्कि सारे संसार के लोगों में, मानववासी ईश्वर मिला है। सम्पूर्ण रूप से समन्वित मानव की उनकी कल्पना में वह मनुष्य, जो समय और अन्तरिक्ष के प्रति मानवता के नये प्रयोगों के लिए भौतिक तथा आध्या-

मिक रूप से सज्जित है, शायद स्वयं नेहरू की ही अवचेतन अवस्था का चित्र है।

वास्तव में इन मुलाकातों से मुझ पर जो अविस्मरणीय छाप लगी है वह है वास्तविक अच्छाई की, जिसके उद्बोधन में स्त्री-सुलभ सहजसौन्दर्य के साथ पुरुषत्वपूर्ण ओज का आभास था : और यह शायद इसलिए था क्योंकि वे शुद्ध हैं, भले हैं और सच्चे हैं। उन्हीं के शब्दों में वास्तविक बातें साध्य और साधनों की होती हैं। एक समारंभ जो अच्छाई और सच्चाई के लिए किया जाता है उसमें से अच्छे और सुन्दर स्वरूप की रचना भी होनी चाहिए।

हम यह ख्याल कर सिहर उठते हैं कि जिस व्यक्ति को हम मानवता की दैदीप्यमान आत्मा मानते हैं वह अपने जीवन के ७० वर्ष पूरे कर चुका हो। गान्धीजी को अपनी मृत्यु के समय कम-से-कम इतना तो ज्ञान था कि उनके बाद उनकी भाषा बोलने के लिए वे जवाहरलाल पर विश्वास कर सकते हैं। लेकिन जवाहरलालजी किस व्यक्ति पर विश्वास करें जो उनके बाद उनकी भाषा बोलेगा? उनका उत्तर होगा "बेशक, जनता"। इस दृष्टि से यदि नेहरूजी के विचारों तथा भाषा को प्रकाशित करने की यह छोटी सी कोशिश, न केवल भारत बल्कि संसार की जनता की सहायता, उनको समझने और उनकी भाषा बोल सकने में कर सकी, तो इससे उद्देश्य की पूर्ति हो जायगी।

आर. के. करंजिया

१. गांधीवादी परम्परा

प्र. : प्रधान मंत्रीजी, इस मुलाकात के लिए मैं जब आपके दफ्तर के बाहर इन्तजार कर रहा था, तब मैंने किसी को कहते सुना कि अगले साल आपके पिता स्वर्गीय मोतीलालजी की जन्म-शताब्दी है। क्या यह सही है ?

उ. : हाँ, बात ठीक है। उनका जन्म सन् १८६१ में हुआ था।

प्र. : मुझे इसका जरा भी ख्याल नहीं था कि एक शताब्दी गुजर चुकी है। यह युग कितना कल्पनातीत रहा !

उ. : पिताजी का जन्म उसी दिन हुआ था जिस दिन रवीन्द्रनाथ ठाकुर का।

प्र. : उसी दिन ?

उ. : हाँ, उसी दिन, उसी माह और उसी साल—दरअसल यह एक विचित्र संयोग है !

प्र. : उन दोनों का तथा गांधीजी और आपका भारत की इस शताब्दी पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। वास्तव में मोतीलालजी, आप और गांधीजी—पिता, पुत्र और महात्मा—भारतीय राष्ट्रीय त्रिमूर्ति के रूप में माने जाते हैं !

उ. : मैं ऐसा तो नहीं कहूँगा, किन्तु यह सच है कि हम तीनों ने एक दूसरे को काफी प्रभावित किया; किन्तु गांधीजी का ही हम दोनों पर अधिक प्रभाव पड़ा। उनका बड़ा शक्तिशाली और क्रांतिकारी व्यक्तित्व था, साथ ही अत्यंत प्रभावशाली भी। दूसरे रूप में पिताजी भी ऐसे ही थे—प्रबल इच्छा-शक्तिवाले, दृढ़-निश्चयी और बिल्कुल भिन्न स्वभाव के, किन्तु स्वतंत्रता-संग्राम

में शामिल करने के लिए गांधीजी ने उन्हें अपने सिद्धान्त और तरीकों को छोड़ने के लिए राज़ी कर लिया। वह भी बिना कोई दबाव डाले, समझा-बुझाकर, रजामंदी से और मानव-स्वभाव को धैर्यपूर्वक संभालकर, बुनियादी बातों पर समझौता किये बिना। जिस तरीके से यह परिवर्तन लाया गया, वह मुझे असाधारण और प्रभावकारी लगा। विरोधियों को अपने पक्ष में लाने का गांधीजी का विशेष तरीका था। इसमें उन्हें सफलता मिली, बड़े बड़े परिवर्तन हुए, मेरे पिताजी के बारे में ही नहीं, बल्कि आम लोगों और सच पूछिये तो सारे देश पर ही यह बात लागू होती है।

प्र. : और आपके बारे में तो सबसे अधिक ?

उ. : हां, मुझ पर तो सबसे अधिक। गांधीजी के प्रभाव में पिताजी के विचार जिस प्रकार बदले और साथ ही गांधीजी ने जिस तरीके से लोगों के दिल व दिमाग में उथल-पुथल मचा दी, वह सचमुच ही बिल्कुल नया और इनकलाबी तरीका था और बिना दबाव डाले, सचाई और ईमानदारी से, अहिंसात्मक एवं शांतिपूर्ण तरीके से तथा समझा-बुझाकर ही उन्होंने यह सब किया और उनका यह तरीका प्रभावशाली भी सिद्ध हुआ। इससे मुझे वह चीज मिल गयी जिसकी मुझे तलाश थी।

प्र. : आपकी समस्याओं की कुंजी ?

उ. : जी हां, कुंजी ! समस्याओं के प्रति मेरा दृष्टिकोण भिन्न था और उस समय तो गांधीजी के दृष्टिकोण से काफी अलग था; लेकिन आजादी के बुनियादी सवाल पर और लड़ाई के तरीके के बारे में हम पूरी तरह सहमत थे। उनके लड़ाई के तरीके पर कभी शक भी होता था, किन्तु उन्होंने लोगों को सही दिशा में बढ़ाकर और नतीजा दिखाकर विरोधियों को जीत लिया और हम महसूस करने लगे कि वे एक महान् गतिशील क्रांतिकारी ताकत थे।

प्र. : क्या यह विश्लेषण सही है कि मोतीलालजी, गांधीजी और आपके इस त्रिकोणात्मक संबंध से वे तत्व पैदा हुए, जिनसे उस दृष्टिकोण का निर्माण

हुआ, जो आज राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मामलों में भारतीय दृष्टिकोण अथवा 'नेहरू-मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है ?

उ. : इसे नेहरू-मार्ग या इस प्रकार का कोई दूसरा नाम देना गलत है। जैसा कि आप कहते हैं, बुनियादी रूप से यह भारतीय दृष्टिकोण था और निश्चित ही गांधीजी इसका प्रतिनिधित्व करते थे। यही कारण है कि वे इतने महान् परिवर्तन करने में सफल हुए।

प्र. : मेरा मतलब यह था कि कुछ बातों में मोतीलालजी यूरोपीय सुधारवाद की सर्वोत्तम परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले विक्टोरिया-युग के महान् प्रतीक थे, जब कि गांधीजी पुरानी परम्परा के शुद्ध और सीधे-सादे राष्ट्रवादी थे। इन दो अलग व्यक्तित्वों के बीच की कड़ी शायद आप रहे हैं; जो मार्क्सवादी समाजवाद से और सामाजिक, वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक, शक्तियों के प्रति जागरूक हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इन तीन प्रभावों से भारतीय दृष्टिकोण का निर्माण हुआ, जिसे आज हम देशी तथा अंतरराष्ट्रीय मामलों में सक्रिय देख रहे हैं।

उ. : व्यक्तित्वों का इस प्रकार का सीमित वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए गांधीजी राष्ट्रवादी ही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक कुछ और भी थे; जैसा कि आपने बताया है, वे शुद्ध और सीधे-सादे पुरातनवादी थे, वे एक महान् व्यक्ति और शक्तिशाली नेता थे। उनमें सामाजिकता की जड़ें बड़ी गहरी थीं, समाजवाद या वर्ग-संघर्ष के अर्थ में नहीं, बल्कि इस अर्थ में जो दलितों, हरिजनों और किसानों इत्यादि के उद्धार के लिए किये गये लगातार संघर्ष की प्रवृत्ति से जाहिर है। जात-पाँत की प्रथा को ही ले लीजिए और जरा गौर कीजिए कि उन्होंने किस प्रकार छुआछूत को चुनौती देकर पूरे ढाँचे को हिला ही नहीं, बल्कि पलट भी दिया।

मेरा कहने का मतलब है कि गांधीजी का भी एक सामाजिक दर्शन था, जिसकी शुरुआत दक्षिण अफ्रीका में उनके जीवन के आरम्भ से हो गयी थी। इसलिए यह भी एक कारण है कि हमारे स्वतंत्रता-संग्राम में हमेशा सामाजिक

तत्वों का समावेश रहा है और वास्तव में वही इसका आधार था, अतः उनकी कार्य-प्रणाली इतनी अधिक प्रभावकारी साबित हुई। गांधीजी लोगों में पूरी तरह से घुलमिल जाने में विश्वास करते थे, भले ही इससे कुछ पिछड़ना पड़े या प्रगति कुछ धीमी पड़ जाय, किन्तु वे सबको साथ लेकर आगे बढ़ना चाहते थे।

प्र. : अर्थात् समस्त राष्ट्र के बोझ को लेकर निरन्तर आगे बढ़ना?

उ. : हाँ, यानी अनावश्यक रूप से उग्र या रूढ़िवादी बने बिना, गुटवादी विरोध उत्पन्न किये बिना और आन्दोलन को विभाजित या खण्डित किये बिना आगे बढ़ने का तरीका। सदियों से लोग जिस सामाजिक ढांचे में रह रहे थे, गांधीजी ने हमेशा उसके भीतर रहकर अपना काम किया और ढांचे को नष्ट करने तथा लोगों को उनकी पृष्ठभूमि से उखाड़ने के बजाय उन्होंने धीरे धीरे किन्तु स्थायी परिवर्तन किये। उन्होंने गुजरे जमाने से नाता कायम रखने पर ज़ोर दिया और अपने राजनीतिक तथा सामाजिक काम के तरीके के लिए मौजूदा सामाजिक प्रणाली को ही आधार के रूप में माना। मिसाल के लिए हम फिर जाति-पाँति की प्रथा को ही लें, इससे आपको पता चल सकता है कि उनके काम करने का तरीका कैसा था? उन्होंने जाति-व्यवस्था की सबसे बड़ी खामी—छुआछूत पर ही पहले हमला किया और उसकी जड़ें काटकर उसे उखाड़ फेंका। इस प्रकार उन्होंने समाज के पूरे ढाँचे को ही हिला दिया; किन्तु लोगों को यह भी पता न चला कि उन्होंने कितना बड़ा सामाजिक इनक़लाब किया है। इस प्रकार गांधीजी ने लोगों के दिमाग में एक नयी और क्रांतिकारी प्रतिक्रिया जगा दी और महान् सामाजिक परिवर्तन किये।

प्र. : ऐसा हो सकता है, श्रीमानजी। भारतीय क्रांति पर गांधीजी का भारी प्रभाव पड़ा, इसमें किसी को सन्देह नहीं, हालाँकि मेरे जैसे ख्यालों के लोग उनके दर्शन को अस्पष्ट और अवैज्ञानिक समझते हैं। खैर, जो कुछ भी हो काँग्रेस के हाथ में राजनीतिक सत्ता आने के साथ ही गांधीयुग का अंत हो

गया। सन् १९४७ के बाद वह युग आरम्भ हुआ, जो हमारे देश में नेहरू-युग के नाम से प्रसिद्ध है। क्या मेरा यह ख्याल सही है कि आजादी मिलने के बाद आपने नेहरू-लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए गांधीवादी तरीकों को अपनाया? 'नेहरू-लक्ष्यों' से मेरा मतलब है पहले संसदीय लोकतंत्र के भीतर समाजवाद, फिर धर्मनिरपेक्षता और अन्त में विश्वशांति और गुटबंदी से अलग रहने की विदेशनीति, जो सबसे महत्वपूर्ण है।

उ. : नेहरू-युग या नेहरू-नीति जैसे शब्दों का प्रयोग कर आप गलती कर रहे हैं। मैं अपने इस जमाने को सच्चा गांधी-युग कहूँगा और जिन नीतियों तथा दर्शन पर हम अमल करने की कोशिश कर रहे हैं, उन्हें हमने गांधीजी से ही सीखा है। सन् १९४७ के पहले या इसके बाद हमारी विचारधारा में कहीं फर्क नहीं आया, हालाँकि यह जरूर है कि तबसे जो तंत्रज्ञान संबंधी तथा वैज्ञानिक प्रगति हुई है, उसे मद्देनजर रखते हुए हमें कुछ बातों पर फिर विचार करना पड़ा और नये जमाने के अनुसार नीतियाँ भी अपनानी पड़ीं; किन्तु इसमें भी गांधीजी की कई बातें सच निकलीं। उनकी विचारधारा, दृष्टिकोण और हलों से हमें औद्योगिक क्रांति और परमाणु युग की खाई को पार करने में सहायता मिली। आखिर, अणुबम का एकमात्र समाधान अहिंसा ही है। क्या यह सही नहीं है?

प्र. : श्रीमानजी, मेरे ख्याल से तो अणुबम के खतरे के निवारण के लिए आप पंचशील अथवा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त प्रतिपादित कर अहिंसा से भी कहीं आगे बढ़ गये।

उ. : यह सब कुछ तो स्वाभाविक रूप से ही गांधीवाद में निहित था। दरअसल पंचशील, सहअस्तित्व, शांति, सहनशीलता, जियो और जीने दो की भावना बहुत पुराने समय से ही भारतीय दर्शन की बुनियादी बातें रही हैं और आप हमारे सभी धर्मों में इन्हें पायेंगे। अशोक जैसे महान् सम्राट ने इन्हें अपनाया और गांधीजी ने इन्हें कार्य के व्यावहारिक दर्शन का रूप दिया और यही हमें विरासत में मिला है। अशोक के मन में शीतयुद्ध के लिए कोई स्थान न था और गांधीजी ने शांतिपूर्ण विरोध के रक्तहीन हथियार से महान्

क्रांति करके युद्ध और हिंसा का व्यावहारिक हल पेश किया। हमारी विदेशनीति की सबसे खास बात यह है कि यह हमारी ऐतिहासिक परम्परा का ही एक अंग है। क्या आप चाणक्य की कथा जानते हैं?

प्र. : मुझे याद नहीं, श्रीमानजी।

उ. : संस्कृत की एक दिलचस्प पुस्तक में यह कथा है, जिसका अनुवाद मेरे बहनोई स्वर्गीय पण्डित ने किया था। श्री पण्डित संस्कृत के विद्वान थे। यदि यह पुस्तक मिल सके तो आप उसका अंग्रेजी अनुवाद पढ़ें। इसमें सम्राट चन्द्रगुप्त और उनके मंत्री चाणक्य की कहानी है। चाणक्य में भारतीय प्रतिभा की विशिष्टता थी; वे शांतिप्रिय, दूरदर्शी, चतुर, बड़े विद्वान, स्वाभिमानी, निःस्वार्थी और बुद्धिमान थे। कथा इस प्रकार है कि कुछ राजाओं तथा सरदारों ने चन्द्रगुप्त का विरोध किया। उन्होंने अपना संघ बनाया और चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर हमला कर दिया। चन्द्रगुप्त ने रक्षा का नेतृत्व चाणक्य को सौंप दिया और चाणक्य ने, जो बड़ा राजनीतिज्ञ और होशियार कूटनीतिज्ञ प्रतीत होता है, युद्ध या किसी प्रकार के संघर्ष के बिना ही शत्रु के मोर्चे में गड़बड़ी पैदा करने और उन्हें पराजित करने में सफलता प्राप्त की। तब उपस्थित हुआ सच्ची परीक्षा का समय! चन्द्रगुप्त ने चाणक्य से पूछा कि अब अगला कदम क्या होना चाहिए? चाणक्य ने जवाब दिया कि मेरा काम तो अब पूरा हो गया है; मैंने शत्रु को छिन्नभिन्न कर दिया है और अपने राजा के लिए विजयश्री प्राप्त की है। मेरी बस अब यही इच्छा है कि अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाऊँ और वानप्रस्थी बनकर अपने अध्ययन में लीन हो जाऊँ। चन्द्रगुप्त हक्काबक्का रह गया। चाणक्य के स्थान पर कौन उसका मंत्री बन सकेगा? चाणक्य का उत्तर, जो भारतीय विचारधारा के ही अनुरूप था, चिरस्मरणीय रहेगा। उसने राजा को सलाह दी कि वह शत्रु-संघ के पराजित नेता को अपना मंत्री चुने। साम्राज्य में शांति और सद्भावना स्थापित करने का यही एक मात्र उपाय है। अतः आज से लगभग दो हजार साल पहले की यह बात है जो सहअस्तित्व का एक उदाहरण है। क्या यह सही नही है?

प्र. : नेहरूजी, आपका कहना सही है। मैं अपनी गलती समझ गया हूँ, किन्तु प्रगतिशील लोगों की अब भी यह धारणा है कि वैज्ञानिक समाजवाद के प्रति आपकी पहले जो आस्था थी, उसे गांधीजी ने अपने भावनात्मक और आध्यात्मिक तरीकों से भंग और क्षीण कर दिया।

उ. : गांधीजी के कुछ विचार पुराने ढंग के थे और आप तो जानते ही हैं कि मैं उनसे सहमत नहीं हुआ और मैंने उनका विरोध भी किया। लेकिन पूर्ण रूप से यह कहना गलत है कि गांधीजी ने मेरी या किसी अन्य की आस्था को क्षीण या कम किया।

इस प्रकार की कोई भी बात उनके काम करने के तरीके के खिलाफ थी। उन्होंने हमेशा साधनों के महत्व पर ही जोर दिया; साधनों से ही साध्य का स्वरूप बनता है और साधन ही साध्य की ओर बढ़ाते हैं, अतः साधनों का अच्छा, ईमानदार और शुद्ध होना जरूरी है। हमने उनसे यही सीखा और यह अच्छा ही हुआ कि हमने ये बातें सीखीं।

दूसरी ओर भावनात्मक और आध्यात्मिक तरीकों की जो आपने बात कही, वह सच भी हो सकती है। मेरे ख्याल से भावना से आपका मतलब मानवतावाद से है—यानी वह मानवीय दृष्टिकोण जो गांधीजी ही नहीं बल्कि हमेशा मेरी विचारधारा का भी एक अंग रहा है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी आवश्यक और जरूरी है और गांधीजी के साथ मेरा हमेशा इसमें विश्वास रहा है। तंत्रज्ञानकी सभ्यता के इस युग में जब हम आध्यात्मिक शून्यता का कोई हल निकालने की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं, शायद इसमें मेरा विश्वास और भी बढ़ गया है। वैज्ञानिक समाजवाद—जैसा कि आपने बताया है—शायद आपका मतलब मार्क्सवादी समाजवाद से है। औद्योगिक क्रांति ने मार्क्सवाद को जन्म दिया, किन्तु नया वैज्ञानिक युग तब से बहुत आगे बढ़ गया है, अतः मार्क्सवादी समाजवाद को भी तो समय के अनुसार बदलना होगा। नये परिवर्तनों से नये सवाल उठ खड़े होते हैं, जिनके हल के लिए नये तरीकों की जरूरत होती है।

२. आधुनिक विश्व में मार्क्सवाद

प्र. : हम गांधीवाद और मार्क्सवाद की आज के ज़माने के अनुसार चर्चा कर रहे थे। अब मेरा विश्वास है, श्रीमानजी, कि हम भारतवासियों ने—मैं जानबूझकर हम शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, क्योंकि स्पष्ट ही है कि जवाहरलाल नेहरू का उल्लेख आपको अखरता है—बदलते समय की नयी समस्याओं, सभी नहीं तो कम-से-कम कुछ समस्याओं के नये हल ढूँढ निकाले हैं। मेरे ख्याल से इनमें सब से महत्वपूर्ण है मार्क्सवादी दृष्टिकोण का अपनाया जाना, जो हमारे मामले में गांधीवादी प्रभाव से गुजरकर नये वैज्ञानिक और तंत्रज्ञान के युग से गुजर रहा है। इस सिलसिले में भारत नये किस्म के समाजवाद को चलाने, और समाज वाद का एक नया रास्ता ढूँढ निकालने का दम भर सकता है। इन दोनों का उद्देश्य पूंजीवादी लोकतंत्र और साम्यवादी तानाशाही का मिश्रण तैयार करना है।

श्रीमानजी, अब चिकनी-चुपड़ी बातें किये बिना मैं कहना चाहता हूँ कि यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग है, जिसका विश्व की एक सप्तांश जनसंख्या पर प्रत्यक्ष और बाकी लोगों पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा आणविक खोजों और अन्तरनक्षत्रीय प्रगति के इस युग की नयी समस्याओं के भी इसमें कुछ हल हैं।

यह तस्वीर का एक पहलू है। दूसरी ओर 'नये समाजवाद' अथवा 'समाजवादी मानवतावाद' पर आपके भव्य किन्तु सूक्ष्म 'घोषणापत्रों' ने आपके अनुयाइयों को दुविधा में डाल दिया है। इसका कारण यह है कि आपने भारतीय समाजवाद के लक्ष्यों और उद्देश्यों की न तो व्याख्या ही की है और न साधनों अथवा उपकरणों का ही निरूपण किया है। फिर भी, मेरे ख्याल से आपको इन दोनों बातों का काफी अनुभव हो चुका है, अतः शायद आप अब इसकी कुछ परिभाषा दे सकें। क्या आप परिभाषा दे सकेंगे?

उ. : आप बार बार भारतीय समाजवाद और समाजवाद के संबंध में मेरे घोषणापत्रों का जिक्र कर रहे हैं। सच तो यह है कि मैं न तो खास भारतीय समाजवाद की दृष्टि से किसी समस्या पर सोचता हूँ और न मैंने इस संबंधमें कोई घोषणापत्र ही जारी किया है।

प्र. : मेरा मतलब आपके भाषणों, आपके लेखों और आपकी 'व्हिदर इंडिया' (भारत किस ओर) जैसी पुस्तकों से है, जिन्हें मैं घोषणापत्र मानता हूँ...

उ. : जी हां, मैं समझ गया; किन्तु जैसा कि मैंने कहा है, खास या विशेष रूप से कोई भारतीय समाजवादी दृष्टि से विचार नहीं कर सकता, हालाँकि मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक देश की अपनी खास विशेषताएँ होती हैं और उसका सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचा आंशिक रूप से उन पर निर्भर रहता है और उनके अनुरूप ही ढलता है। इसे समझने के लिए उदाहरण के तौर पर धर्म को ही लीजिए। जैसे बौद्ध धर्म का भारत से कई अन्य देशों में प्रसार हुआ और भिन्न-भिन्न देशों में इसका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता गया। चीन में बौद्धधर्म पर चीन का ही रंग चढ़ गया, हालाँकि भारत से ही यह धर्म वहां फैला था। यही बर्मा, जापान आदि देशों में भी हुआ। मतलब यह है कि किसी देश की राष्ट्रीय आत्मा की जड़ों पर ही इसकी 'कलम' लगायी गयी। इस अर्थ में, किसी भी देश के राजनीतिक दर्शन के अध्ययन के लिए वहाँ की आबोहवा तथा अन्य प्राकृतिक विशेषताओं के साथ वहाँ की राष्ट्रीय विशेषताओं को भी ध्यान में रखना जरूरी है। आर्थिक उत्पादन के अर्थ में उष्ण कटिबंध के क्षेत्र का अध्ययन किसी अन्य देश से शायद भिन्न होगा।

प्र. : यह ठीक है। अब मैं आपसे मार्क्सवादी विश्लेषण को भारतीय स्थिति तथा उन असली हालात पर, जिनका आपने जिक्र किया है, लागू करने के बारे में जानना चाहूँगा।

उ. : मैं यही बताने जा रहा था। जहाँ तक आर्थिक या सामाजिक दर्शन का सवाल है, पिछले अनुभव से बहुत-कुछ सीखा जा सकता है; और अतीत के मार्क्सवादी विश्लेषण को मैंने हमेशा बड़ा विज्ञानसंगत और प्रबुद्ध पाया।

मार्क्स की सभी बातों से मैं सहमत नहीं हूँ; फिर भी आम तौर से मैंने इसे उपयोगी और बुद्धिमंगत पाया है। तथापि, इस तथ्य को भी याद रखा जाना चाहिए कि इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति की आरम्भ की स्थितियों ने मार्क्सवाद को जन्म दिया। औद्योगिक क्रांति के आरम्भ में वहां कुछ विचित्र और विशेष परिस्थितियाँ थीं जो विश्व में अन्य कहीं फिर देखने में नहीं आयीं और यह स्वाभाविक ही है। मेरा ख्याल है कि मार्क्स असामान्य स्थिति से प्रभावित हुआ था। औद्योगिक क्रांति की प्रथम लहर ने वीभत्स स्थितियों को जन्म दिया। यह वह काल था, जब राज्य के लोकतांत्रिक ढाँचे की कल्पना करना भी कठिन था। ऐसी स्थिति में केवल हिंसा से ही परिवर्तन हो सकते थे, क्योंकि लोकतांत्रिक या सांविधानिक रूप से तो यह सम्भव नहीं था। इसीलिए मार्क्स ने हिंसात्मक क्रांति का सिद्धान्त बनाया।

जहाँ तक उत्पादन, परिवर्तन इत्यादि के बारे में मार्क्स की व्याख्या का सवाल है, आज हमें मौजूदा समय, अपने देश और मौजूदा विचित्र परिस्थितियों तथा असली हालात को मद्देनजर रखते हुए ही उन पर विचार करना पड़ता है। उन्नीसवी सदी के आरम्भ में यानी मार्क्स के जीवनकाल में इंग्लैण्ड में जो परिस्थितियां थीं, उन पर तो अब हम विचार नहीं करेंगे। आखिर तो मौजूदा परिस्थितियों का ही महत्त्व है और वे ही हमारे विचारों को प्रभावित करती हैं। मार्क्स ने बड़े बुद्धिमत्तापूर्ण हल पेश किये। वे उन्हीं परिस्थितियों और समस्याओं के लिए सही और उपयुक्त हो सकते थे, जिन्होंने उन्हें जन्म दिया; किन्तु आप न तो उन्हें उनके ऐतिहासिक संदर्भ से ही जुदा कर सकते हैं और न उन्हें उस सदी में ही लागू कर सकते हैं, जहाँ परिस्थितियाँ बिल्कुल अलग हैं। मार्क्सवादी हलों का अक्षरशः अनुसरण करने के विरुद्ध एक यह तर्क भी पेश किया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिक शक्तियों इत्यादि का मार्क्सवादी विश्लेषण तत्कालीन परिस्थितियों के लिए सही है। मेरा कहने का मतलब है कि यदि मान लिया जाय कि अन्य शक्तियाँ उपस्थित नहीं होंगी तो मार्क्सवादी अर्थ-व्यवस्था की दिशा, जिसमें बताया गया है कि ऐसी-ऐसी परिस्थितियों में ऐसा-ऐसा होगा या होना चाहिए, तर्क की दृष्टि से सही है; किन्तु कठिनाई तो यह

है कि भविष्य में उपस्थित होनेवाली शक्तियों को मार्क्स ने ध्यान में नहीं रखा है। वास्तव में इसमें मार्क्स का दोष नहीं। उसने अपने समय की वास्तविक परिस्थितियों पर विचार किया और अपने नतीजों के लिए उन्हीं को आधार माना। तत्पश्चात् अन्य शक्तियों का प्रवेश हुआ, जिनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक लोकतंत्र है, जिससे शांतिपूर्ण ढंग से परिवर्तन करना संभव हो गया। स्मरण रहे कि मार्क्स के समय में उन तथाकथित लोकतांत्रिक देशों में भी, जहाँ भूस्वामी-वर्ग सत्तारूढ़ था, राजनीतिक लोकतंत्र नहीं था। मतदान को ही लीजिए, हालाँकि इससे सभी समस्याएँ हल नहीं होतीं, किन्तु इससे फर्क पड़ता है और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए भी हैं। जब सभी को मतदान का अधिकार है, तो सामाजिक परिवर्तन के लिए यह एक प्रभावकारी शक्ति बन जाता है, किन्तु मार्क्स को इसका ख्याल नहीं था, क्योंकि ऐसी तस्वीर ही उसके सामने नहीं थी।

इसके बाद ट्रेड युनियन संगठन, श्रमजीवी संगठन, किसान संगठन जैसे अन्य लोकतांत्रिक पहलू भी सामने आये, और इन सभी बातों ने उस दिशा में, जिसे हम आर्थिक लोकतंत्र की आत्मा कह सकते हैं, सम्पन्न सत्तारूढ़ वर्ग पर शक्तिशाली दबाव डालना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि औद्योगिक क्रांति के बारे में मार्क्सवाद की यह भविष्यवाणी सच नहीं निकली कि सम्पत्ति और सत्ता उत्तरोत्तर कम-ही-कम व्यक्तियों में केन्द्रित होती जायगी और गरीबी व्यापक रूप से बढ़ती जायगी। इन नये दबावों—लोकतांत्रिक, ट्रेड युनियन आदि—के शक्तिशाली प्रभाव से उक्त दोनों ही बातें सीमित रही हैं। मैं इससे इन्कार नहीं करता कि मार्क्स ने जिस आर्थिक प्रवृत्ति की कल्पना की थी, वह सामने जरूर आयी, किन्तु उक्त वास्तविक परिस्थितियों के कारण वह हमेशा सीमित और संकुचित रही।

एक ओर निरन्तर और बुनियादी रूप से बदलती राजनीतिक पृष्ठभूमि में नये प्रकार के संगठनों की पैदाइश हुई, जिन्होंने सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन की भावना को बल दिया। दूसरी ओर तंत्रविज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति से विश्व में एक नयी क्रांति पैदा हो गयी, जिसकी १९ वीं सदी में मार्क्स या अन्य किसी भी विचारक ने कल्पना भी न की थी।

यह कहा जा सकता है कि इस वैज्ञानिक और तंत्रज्ञान की प्रगति ने सैद्धांतिक रूप से सम्पत्ति और उत्पादन की समस्याओं को हल कर दिया है और भौतिक समृद्धि को हरेक की पहुँच के भीतर ला दिया है, यानी कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप से तो समस्त विश्व के लोगों के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकी है, या यों कहिए कि सामान्य और बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विश्व में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध की जा सकती है।

मार्क्स एक ऐसे समय से गुजरा, जब मुख्य आर्थिक प्रश्न यह था कि उस चीज का, जो पर्याप्त नहीं, किस प्रकार वितरण किया जाय और इससे अनेक प्रकार की समस्याएँ और संघर्ष उत्पन्न हो गये। जो कुछ उपलब्ध था, उसे तो सम्पन्न और शक्तिशाली वर्ग ने हथिया लिया और गरीब तथा दुर्बल वर्ग दरिद्रता में डूबने लगा।

प्र. : आपका मतलब शायद 'मत्स्य-न्याय' यानी बलवानों के ही जीवित रहने के दावे और जबरदस्तों द्वारा अधिकतम हड़पने के सिद्धान्त से है?

उ. : जी हां, 'मत्स्य-न्याय' यानी बलवानों के ही जीवित रहने का दावा। बात यह है कि जहाँ अभाव हो, वहाँ संघर्ष भी तीव्र हो जाता है, जहाँ सभी के लिए पर्याप्त सामग्री पैदा करने की प्रवृत्ति हो, वहाँ संघर्ष घटता जाता है।

इस समय अमरीका में ही सबसे अधिक उत्पादन की व्यवस्था है। मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि अमरीकी करोड़पति और अन्य लोगों के बीच भारी अन्तर है, किन्तु साथ ही यह भी एक तथ्य है कि वहाँ के लोगों के रहन-सहन का स्तर बहुत ऊँचा है। अमरीका में आज मार्क्सवादी कल्पना का कोई सर्वहारा वर्ग नहीं है।

प्र. : मार्क्स की सर्वहारा वर्ग की परिभाषा क्या नीग्रो लोगों पर लागू नहीं होती?

उ. : हाँ, नीग्रो लोगों पर शायद यह परिभाषा लागू हो सकती है—वह भी उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में कुछ अधिक—किन्तु ठीक मार्क्स के अर्थ में नहीं। वहाँ भी तो ठीक वैसी नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं हुई, जिनके उपस्थित

होने की मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी। खुद पूँजीवाद में ही परिवर्तन हुआ है और निरन्तर होता रहता है, हालाँकि हथियाने की मूल प्रवृत्ति विद्यमान है और एकाधिकार तथा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण की ओर उसका झुकाव रहता ही है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पूँजीवादी प्रणाली में भी सामाजिक न्याय की इच्छा है।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यद्यपि मार्क्स का बुद्धिसंगत तर्क सही है, तथापि, तबसे अनेक नये तत्वों का हस्तक्षेप हुआ है। इन नये तत्वों से, विशेषकर राजनीतिक लोकतंत्र और तंत्र-विज्ञान की प्रगति से, नयी परिस्थितियों का जन्म हुआ है, और नये संदर्भ में ही मार्क्सवाद पर विचार किया जाना चाहिए। इन तत्वों के साथ नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं, जिनके हल भी नये ही होने चाहिए। ये समस्याएँ और हल बिलकुल भिन्न हैं, जिनकी मार्क्स ने कभी कल्पना नहीं की और न कर ही सकता था।

प्र. : आपने राजनीतिक लोकतंत्र और तंत्र-विज्ञान की प्रगति को दो मुख्य समस्याएँ बताया है। इनके अलावा क्या अन्य कोई तत्व आपके ख्याल में है?

उ. : अगले १० वर्षों में या इसके बाद हमारी और विशेषकर अमरीका तथा आर्थिक दृष्टि से चढ़े-बढ़े अन्य देशों की, जो बड़े पैमाने पर स्वचालन की दिशा में बढ़ रहे हैं, एक सबसे बड़ी समस्या यह होगी कि किस प्रकार अवकाश का उपयोग किया जाय। भारत जैसे अविकसित देश में यह समस्या उतनी नहीं जितनी कि अमरीका, यूरोप, रूस और खासकर अधिक बढ़े-चढ़े स्केण्डिनेवियन देशों में है। दुनिया भर में नवयुवकों की अपराध की प्रवृत्ति और उत्तरोत्तर नैतिकता एवं आध्यात्मिक अनुशासन के ह्रास का कारण यही समस्या है। उक्त बुराइयां अधिकतर सम्पन्न देशों और समाजों में ही पनपती हैं। फालतू समय की इस नयी समस्या का क्या किया जाय? और यदि इसका समाधान न हुआ तो परिणाम यह होगा कि मानसिक और नैतिक रूप में सभ्यता का ही ह्रास होने लगेगा।

प्र. : मुझे मालूम हुआ है कि रूसी वैज्ञानिक ढंग से इस समस्या को हल करने की कोशिश कर रहे हैं?

उ. : जी हां, किन्तु रूस में भी इसी प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं, हालाँकि अपेक्षाकृत कम मात्रा में। आवश्यकता तो यह मालूम होती है कि—मेरी समझ में नहीं आता कि इसे किस प्रकार व्यक्त करूँ—केवल यही कह सकता हूँ कि यह एक नैतिक प्रश्न है, जिसे शायद आध्यात्मिक ढंग से ही हल किया जा सकता है।

प्र. : नेहरूजी, नैतिक और आध्यात्मिक हलों की आपकी बात से ऐसा मालूम होता है कि अब आप पहले के जवाहरलाल नहीं रहे। जो आप कह रहे हैं, उससे ऐसा भान होता है कि श्री नेहरू अपने जीवन की संध्या में ईश्वर की तलाश में हैं!

उ. : यदि आप इस रूप में प्रश्न उठाना चाहते हैं, तो मेरा जवाब 'हां' में है, मैं बदल गया हूँ। नैतिक और आध्यात्मिक समाधान पर मैंने जो जोर दिया है, वह बिना जाने-बूझे नहीं और खूब सोचने-विचारने के बाद मैं उक्त निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम, भौतिक विकास के अलावा जो कि अपरिहार्य है, मेरा ख्याल है कि मनुष्य का मन नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए, जिसके बिना समस्त भौतिक प्रगति शायद निरर्थक हो, किसी आंतरिक वस्तु का भूखा है। अब यह प्रश्न उठता है कि आवश्यक नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया जाय। वैसे तो इसके लिए धार्मिक मार्ग है ही, जो दुर्भाग्यवश रूढ़ियों और आडम्बरों से संकीर्ण बन गया है। उसका स्वरूप अथवा आवरण तो मौजूद है, किन्तु मूल भावना नष्ट हो चुकी है। क्या आप मेरा मतलब समझ गये हैं?

प्र. : जी हाँ, क्या मेरा यह कहना सही होगा कि बौद्धधर्म और सर्व व्यापी ईश्वरत्व के वेदान्त-दर्शन की ओर आपका कुछ-न-कुछ झुकाव है?

उ. : निश्चित ही बौद्धधर्म का दर्शन आकर्षक है, जो सिर्फ धर्म में ही नहीं, बल्कि कला और राजनीति में भी व्यावहारिक सफलताओं से परिपूर्ण है, जैसा कि आपको अशोक के अभिलेखों से पता चलेगा। हिन्दू धर्म की यह पुरानी मान्यता है कि विश्व में कोई दैवी शक्ति है और प्रत्येक में इसका कुछ-

न-कुछ अंश है और इसको विकसित भी किया जा सकता है। यह मान्यता जीवन-शक्ति के रूप में मुझे पसन्द है। मैं धार्मिक व्यक्ति तो नहीं हूं, किन्तु मैं किसी ऐसी चीज में—आप इसे धर्म या जो कुछ भी कहें—जरूर विश्वास करता हूँ, जो मनुष्य को सामान्य स्तर से ऊपर उठाती है और मनुष्य के व्यक्तित्व को आध्यात्मिकता और नैतिकता का एक नया स्वरूप प्रदान करती है। अतः जो भी मनुष्य को ऊपर उठाने में सहायक है, वह उत्तम है, चाहे वह कोई देवता हो या भले ही पत्थर की मूर्ति हो। यह तो जाहिर है कि यह अच्छी बात है, अतः इसे निरुत्साहित नहीं करना चाहिए। जहाँ तक मेरा खुद का संबंध है, सभी धर्मों, आस्थाओं और दर्शनों के प्रति सहनशीलता ही मेरा धर्म है।

प्र. : सहनशीलता ही नहीं, बल्कि इससे भी बढ़कर मैं कहूँगा कि इन सभी के सम्मिश्रण जैसी कोई व्यवस्था ही आपका लक्ष्य है?

उ. : सम्मिश्रण जैसी किसी व्यवस्था का मेरा लक्ष्य न भी हो, फिर भी यह मेरे स्वभाव का एक अंग है। मैं कुछ हद तक आदिकाल के धर्मनिरपेक्ष लोगों के समान हूं जो जीवन और प्रकृति की सभी अच्छी और सुन्दर वस्तुओं की देवताओं के समान पूजा करते थे और भूल से कोई देवता पूजा से वंचित न रह जाय और इस कारण अप्रसन्न हो, इसके निवारण के लिए वे अज्ञात देवता के नाम पर भी एक विशेष मूर्ति बनाते थे। आप जानते ही हैं कि चार महान् धर्मों का भारत पर प्रभाव पड़ा है और विज्ञान तथा धर्म के बीच कोई प्रत्यक्ष संघर्ष हुए बिना, जब कि हम तंत्रज्ञान और औद्योगीकरण के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ गये हैं, उनका हम पर प्रभाव पड़ रहा है और हो सकता है कि इस प्रकार के सम्मिश्रण का श्रेय भारत को ही मिले।

प्र. : यह बात आपने सुन्दर ढंग से समझायी है; किन्तु शायद मैं आपको वार्ता के मुख्य प्रश्न से दूर ले गया हूँ। मार्क्स की कल्पना से अछूती समस्याओं में से हम फालतू समय की समस्या पर बात कर रहे थे और आपने बताया कि केवल शुद्ध वैज्ञानिक और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ही इस समस्या का हल नहीं हो सकता; इसका हल किसी अन्य प्रकार से होना चाहिए?

उ. : जी हां, सचमुच यह एक पूर्ण समन्वित मानव के निर्माण की समस्या है—मेरा आशय है कि मनुष्य के निर्माण में अभी नियोजन और विकास की जिस मात्र-भौतिक व्यवस्था को उपयोग में लाया जा रहा है, उसके बदले उसके आध्यात्मिक और नैतिक प्रतिरूप से काम लिया जाय। विकास और नियोजन अब लगभग विज्ञान और गणित के फार्मूले के समान बन गये हैं। यदि ठोस आधार हो तो कल्याणकारी राज्य में, जिसकी अर्थव्यवस्था स्वयं विकसित होने योग्य हो, निश्चित ही अपेक्षित परिणाम निकलेगा। किन्तु क्या सचमुच यह काफी है ? मेरे ख्याल से तो यह काफी नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि अत्यधिक विकसित अर्थव्यवस्थावाले देशों में भी लोगों को एक पूर्ण समन्वित जीवन प्रदान करने में भौतिक प्रगति स्वयं विफल रही हैं। वहाँ एक अभाव है, एक कुव्यवस्था है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए, बेकारी की समस्या हल हो गयी, किन्तु इसके बाद एक और भी बड़ी समस्या उत्पन्न हो जाती है, यानी स्वयं अवकाश की बेकारी। इसका कारण यह है कि एक बार जब मनुष्य अपने भौतिक सुख की इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता है, तो किसी ऐसे सूक्ष्म सुख के लिए उसकी आंतरिक भूख बढ़ती है, जिसका स्वरूप कुछ-न-कुछ आध्यात्मिक और नैतिक रहता है।

और तब आपके सामने एक और सवाल पहले की अपेक्षा अधिक उभर आता है कि अवकाश का सदुपयोग करने के लिए क्या मनुष्य मानसिक, नैतिक और आचार-विचार की दृष्टि से पर्याप्त रूप से विकसित है ? यह समस्या तो हमेशा ही विद्यमान रहती है; किन्तु जब मनुष्य किसी काम में लगा हुआ हो, जीने के संघर्ष—भीषण संघर्ष में जुटा हुआ हो, जैसा कि हमारे देश में है, अथवा अपेक्षाकृत साधारण संघर्ष में, जैसा कि कुछ बड़े-बड़े देशों में है—तो इसमें वह व्यस्त रहता है। किन्तु जब उसकी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान हो जाता है, जैसा कि कुछ अधिक विकसित देशों में हुआ है और जब स्वचालित यंत्र या मशीनें उसे काम से भी मुक्त कर देती हैं, तब बालअपराध, यौन संबंधी ज्यादतियाँ, शराब की लत, विनाश की प्रवृत्ति, अराजकता के अलावा आध्यात्मिक एवं नैतिक दुर्बलता की सैकड़ों अन्य संक्रामक खराबियाँ पैदा हो जाती हैं। समस्या यह है कि जब मनुष्य की भौतिक

ज़रूरतें यानी धन, रोजगार, घर इत्यादि की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तब वह जीवन में अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन हो जाता है।

प्र. : आपका मतलब है कि तब वह आध्यात्मिक शून्यता से घिर जाता है?

उ. : जी हाँ, आध्यात्मिक शून्यता, मन की एक प्रकार की रिक्तता, और इसका नतीजा हमारी पीढ़ी के तथाकथित क्षुब्ध युवक और युवतियों के रूप में प्रकट होने लगता है। वे समझदार और मूलतः अच्छे होते हैं, किन्तु कहीं न कहीं कुछ न कुछ खामी है—शायद आर्थिक संघर्ष की समस्या का अभाव हो। इसलिए मतलब यह है कि यह पहलू यानी विकास का यह क्रम, नयी समस्याएं, नयी परिस्थितियाँ मार्क्स के विचारों से अछूती रह गयीं।

प्र. : श्रीमानजी, फिर भी समाजवादी देशों की व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर मैं कहूँगा कि वहाँ यह विशेष समस्या उतनी विकट नहीं है, जितनी कि पूँजीवादी लोकतांत्रिक देशों में हैं।

उ. : मोटे तौर पर मेरा ख्याल है कि समाजवादी ढाँचे के समाज में इस प्रकार की समस्याओं का समाधान अपेक्षाकृत सरल है। मैं यह नहीं कहता कि समाजवादी ढंग में इन सभी समस्याओं के उत्तर हैं। मैं उत्तर भी नहीं जानता, किन्तु मुझे विश्वास है कि धीरे धीरे उत्तर भी मिल जायगा। समस्याओं के साथ ही उत्तर भी आ जाते हैं। शायद सभ्यता के एक नये आधार का निर्माण होगा; जो विज्ञान और तंत्रज्ञान के नये युग के अनुरूप होगा और इसके साथ नई विचारधाराएँ और एक व्यापक दर्शन विकसित होगा। मेरा ख्याल है कि सामूहिक जीवन के नये स्वरूपों का तकाजा करनेवाली इस प्रकार की स्थिति का समाजवादी ढाँचे में अपेक्षाकृत सरलता से निराकरण हो सकता है, किन्तु यह भी एक तथ्य है कि चाहे अणुबम की या हमारे सामाजिक ढाँचे की या अन्य किसी प्रकार की समस्या हो, नैतिक पहलू का महत्त्व बढ़ता जा रहा है।

आप देखिए कि, चाहे हमारे पास अणुबम हो, आणविक शक्ति हो या व्योममण्डलीय राकेट—मुख्य समस्या तो यह है कि उनका किस प्रकार उपयोग

किया जाय। इन सब खोजों ने हमें सामान्य आर्थिक सीमाओं से परे कर दिया है। आप मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था या किसी अन्य स्थायी प्रणाली के संदर्भ में इनके बारे में विचार नहीं कर सकते। जरूरत है नये दृष्टिकोण की, आधुनिक दृष्टिकोण की, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण की—मेरी समझ में नहीं आता कि इसे किस प्रकार व्यक्त करूँ, किन्तु कुछ-न-कुछ इस प्रकार की जरूरत है। वरना, इस पहेली का कोई हल नहीं। सारी बात बिगड़कर 'शक्तियों' की प्रतिद्वंद्विता पर आ जाती है, जो हमारे वैज्ञानिक और तंत्रज्ञान के युग की प्रगति में रुकावट डालती है। और मेरे ख्याल से यही सारे मामले की जड़ है।

३. समाजवाद का भारतीय मार्ग

प्र. : आपने ठीक कहा कि आजकल के हालात में हमें नया रास्ता अपनाने की ज़रूरत है और पूरे मामले की यही असली बात है। मैं चाहता हूँ कि आप इस नये समाजवाद की परिभाषा करें जो हमारे समय के अनुकूल हो और जिसमें उसकी समस्याओं का हल भी बताया गया हो।

उ. : मेरे लिए समाजवाद की परिभाषा करना असम्भव होगा। बात यह है कि परिभाषाएँ संकुचित सिद्धान्तों या नारों का रूप धारण कर लेती हैं, जिनके कारण तेज़ी से बदलने वाली इस दुनिया में स्पष्ट रूप से विचार करने में रुकावट पैदा हो जाती है। कुछ ऐसे उद्देश्यों को सामने रखकर मैं सही हल तलाश करने की कोशिश कर रहा हूँ, जिसमें सर्वसाधारण रूप से मानव-कल्याण और मानव-विकास हो और हरेक व्यक्ति को अधिक से अधिक विकास करने का मौका मिल सके। इसके लिए प्रत्येक गुट में अधिक से अधिक सहयोग और कम से कम होड़ ज़रूरी है। यद्यपि मैत्रीपूर्ण होड़ में कुछ हद तक प्रतिस्पर्धा होने से अच्छा प्रोत्साहन मिलता है, फिर भी मैं चाहता हूँ कि एक दूसरे का गला घोंटनेवाली होड़ खत्म कर देनी चाहिए जो कि पूँजीवाद का असली रूप है।

जब आप समाजवाद की परिभाषा चाहते हैं तो मैं समझता हूँ कि आप ऐसी आर्थिक नीति की परिभाषा जानना चाहते हैं जिससे हम अपने इच्छित ध्येय तक पहुँच सकें। यह केवल उद्देश्यपूर्ति का साधन हो सकता है और जैसा कि मैंने कहा है हमारा उद्देश्य बुनियादी तौर पर मानव-सुधार है; जिसमें हरेक व्यक्ति को ठोस रूप से अपना विकास करने का अवसर प्राप्त हो सके। यह सच है कि हर कोई इसकी इच्छा करता है या ऐसा करने का दावा रखता है। पूँजीवादी यह कभी नहीं कहते कि वे मानवीय विकास अथवा सामाजिक न्याय नहीं चाहते। मुमकिन है कि जनता के सामूहिक विकास और समान

प्रगति में उनका विश्वास न हो। इस सम्बन्ध में भी सैद्धान्तिक रूप से कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। सभी को समान करना असम्भव है; क्योंकि बौद्धिक और शारीरिक दृष्टि से लोग एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ लोग चालाक होते हैं तो कुछ मूर्ख। इस प्रकार सभी तरह के लोग देखने में आते हैं। किन्तु हम सभी के लिए समान अवसर प्रदान करने और एक ही मान-दण्ड लागू करने की व्यवस्था जरूर कर सकते हैं।

इससे हमें ऐसी सामाजिक और आर्थिक नीति पर विचार करने की जरूरत है जिसका अनुसरण करके हम अपने इच्छित लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। यहाँ पर हम समाज के पुराने और विषमतापूर्ण ढाँचे में बुनियादी फेर-बदल करना चाहते हैं जिसमें निजी सम्पत्ति और वैयक्तिक लाभ को प्राधान्य प्राप्त न हो सके। ऐसा करने के लिए हम राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का न्यायोचित और समान रूप से वितरण चाहते हैं। हमारा उद्देश्य वर्गरहित समाज और सहकारिता पर आधारित व्यवस्था स्थापित करना है, जिसमें सभी लोगों को समान रूप से अवसर प्राप्त हो सके। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हम यह उद्देश्य शान्तिपूर्ण और लोकतान्त्रिक तरीकों से प्राप्त करना चाहते हैं। अब ऐसी नीति आवश्यक रूप से अलग-अलग देशों की वास्तविक और विशेष परिस्थिति के अनुसार विकसित होगी। किसी विकसित देश में अनुसरण की जानेवाली आर्थिक नीति ऐसे देश में लागू होनेवाली नीति से भिन्न होगी, जो अविकसित हो या जो प्राचीन सामाजिक व्यवस्था से बाहर निकल कर आ रहा हो। यह सीधी-सादी बात है कि कई अवस्थाओं को लाँघकर आप एकदम आगे नहीं बढ़ सकते। आपको एक अवस्था से गुज़र कर दूसरी अवस्था में क्रमशः कदम रखना होगा।

प्र. : इस दृष्टि से हमारा देश किस अवस्था से गुज़र रहा है?

उ. : इस समय हमारा देश बहुत ही मिश्रित देश है। भारत में आदिम जातियों के पत्थर-युग से लेकर बीसवीं शताब्दी के मध्य तक की लगभग सभी शताब्दियों की झलक देखने को मिलती है। एक तरफ हम अणु-शक्ति का उपयोग कर रहे हैं तो दूसरी तरफ हम गोबर का भी इस्तेमाल करते हैं।

किन्तु साधारण रूप से मैं यह कहूँगा कि तंत्रज्ञान में हमारा देश पूर्ण रूप से विकसित होने जा रहा है। यकीन मानिए कि मैं इस घड़ी अन्य बातों की अपेक्षा सिर्फ तंत्रज्ञान के सम्बन्ध में विचार कर रहा हूँ। हो सकता है कि कुछ बातों में हम पीछे रहे हों और अन्य कुछ बातों में हम आगे बढ़ गये हों। किन्तु यदि तंत्रज्ञान के सम्बन्ध में हमारी संस्कृति को कसौटी मान लिया जाये तो मैं यह कह सकता हूँ कि हाल के कुछ वर्षों में हमने ऐसी ठोस नींव का विकास किया है जो स्वयं विकसित हो रही है और जिससे औद्योगीकरण की रफ्तार में तेज़ी आना अनिवार्य है।

प्र. : अनिवार्य ?

उ. : हाँ, मैं कहता हूँ अनिवार्य। क्योंकि जब कभी बढ़ती हुई नींव की स्थापना करके कुछ विशिष्ट शक्तियों को गतिशील किया जाता है तो उनमें स्वयं एक प्रकार की शक्ति पैदा हो जाती है। हमारा रास्ता सामाजिक रास्ता है जिसे बुनियादी रूप से आर्थिक रास्ता कहना चाहिए और जिसके कारण राजनीति आर्थिक नीतियों के चारों ओर घूमती रहती है। चाहे झगड़े हों या मुसीबतें अथवा असफलताएँ आयें अथवा सरकारें तक बदल जायें; किन्तु इसमें से कोई भी बात इन अनिवार्य शक्तियों को उनकी निर्धारित दिशा में आगे बढ़ने से नहीं रोक सकेगी। हो सकता है कि कुछ लोग गति धीमी करने का प्रयास करें और यह भी सम्भव है कि अन्य कुछ लोग उसे और अधिक तेज़ करने की चेष्टा करें। इस प्रकार देश प्रगति करता रहेगा इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं है। अगर किसी बात से मैं चिन्तित हूँ तो वह यह है कि अन्य विभिन्न मसलों का समाधान करने के लिए हम आवश्यक गति से आगे बढ़ सकेंगे या नहीं।

प्र. : आपका मतलब अन्तरराष्ट्रीय मसलों से है या राष्ट्रीय समस्याओं से ?

उ. : मेरा मतलब एक ओर बढ़ती हुई आबादी और दूसरी ओर बढ़ती हुई सामाजिक समस्याओं से है। मान लीजिए कि हमारी आबादी में हर साल दो फी सदी वृद्धि हो जाती है, आबादी में होनेवाली इस वृद्धि के सम्बन्ध में

प्रबन्ध करने के लिए केवल दो फी सदी आर्थिक वृद्धि पर्याप्त न होगी। याद रखने योग्य खास बात यह है कि इस अतिरिक्त दो फी सदी वृद्धि से हम अपनी वर्तमान आवश्यकताएँ भी बड़ी मुश्किल से पूरी कर सकेंगे। यह अच्छी बात न होगी। लोगों में कई बुराइयाँ हैं और वे सख्त ज़रूरतों और कमियों से परेशान हैं। बढ़ती हुई आबादी के साथ-साथ इन बातों के लिए भी इन्तजाम करना जरूरी है। इन सब बातों की पूर्ति करना आवश्यक है; क्योंकि सच्चे मेहनती और मुसीबतें उठानेवाले लोग हड़तालें और प्रदर्शन करके हमारा ध्यान अपने दुःखों की ओर आकर्षित नहीं कर पाते।

आजकल हड़तालों और सत्याग्रह आदि के बारे में बहुत कुछ सुनने में आता है। सच बात तो यह है कि अगर हम परिस्थिति का अध्ययन करें तो हमें यह मालूम पड़ेगा कि समाज में तुलनात्मक दृष्टि से अधिक समृद्धिशील वर्ग के लोग ही हड़तालें करते हैं। समृद्धिशील से मेरा मतलब बहुत बड़े दौलतमन्द अथवा इसी प्रकार के लोगों से नहीं है। किन्तु मैं यह हक़ीकत बयान करना चाहता हूँ कि जो लोग सचमुच ग़रीब और निर्धन होते हैं वे कभी भी हड़ताल नहीं करते। क्योंकि उन लोगों के पास प्रदर्शन करने के साधन अथवा शक्ति नहीं होती। यदि गाँववालों को पीने का पानी न मिलता हो तो वे क्या हड़ताल कर सकते हैं ? इस तरह हमें हर वक्त यह सोचना पड़ता है कि लोगों की इन बुनियादी और प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की जाये फिर चाहे उनकी आवश्यकताएँ अनाज, पानी, कपड़ा अथवा मकान के सम्बन्ध में ही क्यों न हों।

अब हम दो प्रतिशत वृद्धि के अलावा आबादी में होनेवाली वृद्धि को दृष्टि में रखकर आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दो प्रतिशत अधिक पर विचार करेंगे। इस प्रकार यह वृद्धि चार प्रतिशत होगी। यद्यपि यह वृद्धि परिस्थिति में सुधार करने में सहायक होगी, फिर भी उससे हमें भविष्य में प्रगति करने के कार्यों में लगाने के लिए पूँजी प्राप्त न होगी। गरीब तथा अविकसित देशों की समस्या यह है कि कार्यों में लगाने और अधिक पैदावार के लिए आवश्यक बचत कैसे प्राप्त की जाय ? इस तरह हमारी ज़रूरतें बहुत बड़ी हैं और जितना अधिक आप बचायेंगे उतनी ही अधिक तेज़ रफ़्तार से आप अपना विकास कर सकेंगे। अब आप यह

वृद्धि छः प्रतिशत या सात प्रतिशत या आठ प्रतिशत तक बढ़ा सकते हैं। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि प्रत्येक प्रतिशत वृद्धि के लिए बहुत भारी रक़म की ज़रूरत होगी। प्रत्येक अतिरिक्त प्रतिशत के लिए लगभग १,००० करोड़ रुपयों की ज़रूरत होगी! यह १,००० करोड़ रुपये हम कैसे हासिल कर सकते हैं? हमें १,००० करोड़ रुपये प्राप्त करने के लिए या तो पैदावार बढ़ानी पड़ेगी या यह रक़म कर लगाकर या कर्ज अथवा सहायता लेकर हासिल करनी होगी।

इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि आज भारत के लिए अतिरिक्त पाँच फी सदी न्यूनतम वृद्धि की आवश्यकता है। हमें जैसे भी बन पड़ इस न्यूनतम की पूर्ति करनी पड़ेगी और तभी हम देश को कुछ निश्चित प्रगति की राह पर ले जा सकेंगे।

प्र. : क्या आप यह मानते हैं कि इस पाँच फी सदी न्यूनतम आवश्यक वृद्धि से हम स्थिर अर्थ व्यवस्था से स्वयं-विकसित होनेवाली अर्थ व्यवस्था तक "बढ़" जायेंगे?

उ. : बिल्कुल ऐसी बात तो नहीं है। आपने "बढ़ने" शब्द का प्रयोग किया है। आज कल यह बड़ा सामान्य शब्द बन गया है। इसका कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। लेकिन हमारे जैसे देश के लिए इस शब्द का बुनियादी महत्त्व यह है कि हमारे "बढ़ने" के लिए जरूरी औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी कम से कम आवश्यक सुविधाओं का इन्तजाम मौजूद होगा। इसका अर्थ स्वयं-पोषित, स्वयं-चालित तथा स्वयं-विकसित अर्थव्यवस्था है। किन्तु इसका मतलब दुनिया से अलग रहना नहीं है। हम चीज़ें ख़रीदते और बेचते रहेंगे और सहायता लेते रहेंगे और दूसरों की भी सहायता करते रहेंगे। किन्तु आम तौर पर यह सच है कि आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था से ही हमें अपने लक्ष्य तक बढ़ने में सहायता मिल सकती है।

प्र. : तुलनात्मक दृष्टि से मुश्किल तो यही प्रतीत होती है कि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार हम अपने विकास की ओर पर्याप्त तेज़ गति से नहीं बढ़ रहे हैं।

उ. : हाँ, यह बिल्कुल ठीक और सही है। यह कहना पड़ता है कि दुर्भाग्यवश प्रकृति का कुछ ऐसा ही नियम मालूम होता है कि जिसके पास पर्याप्त हो उसे और अधिक मिलता रहता है।

प्र. : माफ़ कीजिए मुझे आपको टोकना पड़ रहा है। मैं समझता हूँ कि सन् १९४७ से ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों में गरीब और दौलतमन्द लोगों के बीच पहले से भी अधिक असमानता और विषमता बढ़ गयी है जो कि हमारी समाजवादी समाज-व्यवस्था के विपरीत है। आप समाजवाद की इस विपरीतता को कैसे उचित ठहरा सकेंगे ?

उ. : मैं इसे कभी भी उचित न समझूँगा और न ही मैं ऐसी आम धारणा को ही स्वीकार करूँगा। कई विषमताएँ और असमानताएँ विद्यमान हैं। शायद शहरों में जहाँ आप रहते हैं, आपको बढ़ती हुई विषमताएँ दिखाई देंगी; किन्तु आम तौर से बड़ी हद तक समानीकरण हो गया है। यह सम्भव है कि तेज़ी से हुए औद्योगीकरण के कारण कुछ दौलतमन्द लोग अधिक दौलतमन्द हो; गये हों किन्तु गरीब लोगों, विशेष रूप से मजदूरों और किसानो की हालत भी तो सुधर गयी है।

जिसके पास है उसे अधिक मिलने सम्बंधी प्रकृति के नियम का जब मैंने जिक्र किया, तब मैं अपने देश के गरीब और दौलतमन्द लोगों के बारे में नहीं सोच रहा था। मेरा मतलब हमारे देश और अन्य समृद्ध देशों से था। इस समस्या पर आप एक दूसरी तरह से भी विचार कर सकते हैं। हम भारत में करीब पिछले दस वर्षों से कड़ी मेहनत कर रहे हैं; तब भी इन दस वर्षों में अन्य देशों की अपेक्षा हमारी अर्थव्यवस्था का विकास बड़ी धीमी गति से हो रहा है। तन्त्रज्ञान-शक्ति के कारण अन्य राष्ट्र इस अवस्था तक पहुँच गये हैं कि वे स्वयं बढ़ते तथा विकसित होते हैं। यदि वे विशेष रूप से प्रयास न भी करें तो भी उनका विकास होता रहता है; क्योंकि उनकी आर्थिक विकास की मशीनों में स्वयं आगे बढ़ने की शक्ति पैदा हो गयी है। उदाहरण के रूप में रूसी अर्थव्यवस्था में यह शक्ति पैदा हो गयी है। वह अपनी शक्ति के आधार पर विकसित होती है; क्योंकि कई वर्ष पूर्व वह आगे

"बढ़" चुकी है। यही बात ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की भी है, जो उन्नीसवीं शताब्दी से आगे बढ़ गयी है। जर्मनी की अर्थव्यवस्था भी ७० से ८० वर्ष पूर्व आगे बढ़ गयी है और फ्रेन्च तथा अमरीकी अर्थव्यवस्था की भी यही हालत है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अर्थव्यवस्था को पहले स्वयं-चालन की अवस्था से गुज़र जाना चाहिए और जब ऐसा हो जाता है तब आम तौर से शेष कार्य आप ही आप पूरा हो जाता है।

अब इन विषमताओं को, चाहे वे राष्ट्रों के बीच हों अथवा किसी राष्ट्र के भीतर हों, कम करना आवश्यक है। अब हालत यह है कि असमानताएँ बढ़ती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप दुनिया के पिछड़े और अविकसित भागों में सामाजिक असन्तोष और अन्य झगड़े तथा ख़तरे बढ़ते जाते हैं।

प्र. : पिछड़े हुए और विकसित देशों के बीच बढ़ती हुई असमानता और विषमता कम करने की दृष्टि से क्या यह सम्भव नहीं कि इस फैलती हुई आर्थिक दरार को जोड़ने अथवा कम करने के लिए अन्तरराष्ट्रीय-कर अथवा आयकर की पद्धति शुरू की जाय? उदाहरण के तौर पर क्या बांडुंग शक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र के भीतर अथवा बाहर आपस में मिलकर अपने विकास के लिए अधिक प्रगति किये हुए पश्चिमी तथा सोवियत गुट के देशों द्वारा दिये गये आर्थिक अंशदान को संयुक्त रूप से जमा करने की व्यवस्था नहीं कर सकतीं?

उ. : ऐसे हल की व्यावहारिकता पर मेरा विश्वास नहीं है। निःसंदेह बांडुंग शक्तियों का सम्मेलन होगा जिसमें कोरे प्रस्ताव पास किये जायेंगे; किन्तु इससे क्या लाभ हो सकेगा? आजकल हालत यह है कि बांडुंग शक्तियाँ दर्जनों विभिन्न दिशाओं में खींचतान कर रही हैं।

अन्तरराष्ट्रीय-कर अथवा आयकर लगाने के सुझाव के सम्बन्ध में अधिक विकसित तथा समृद्धिशील देशों सहित कई देशों में उनके अपने दृष्टिकोण से, शेष दुनिया के विकास में, सहायता करने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। हर जगह यह भावना दृढ़ होती जा रही है और जैसा कि मैंने कहा है इसका कारण मानवतावादी दृष्टिकोण न हो कर उनका अपना स्वार्थ है जिसे वे शुद्ध आत्महित कहते हैं।

किन्तु कोई भी देश जब तक वह आत्म-निर्भर न हो, कभी आगे नहीं बढ़ सकता, फिर चाहे उसे दुनियाभर की सहायता क्यों न प्राप्त हो जाये। यह केवल पैसों का सवाल नहीं है। पूँजी के रूप में पैसों की ज़रूरत होती है; किन्तु इसके साथ ही प्रगति करने की आकांक्षा का होना उतना ही ज़रूरी है। यदि यह कामना न हो तो देश पीछे रह जाता है। इससे देश का सत्यानाश हो जाता है और यह याद रहे कि यह बात न केवल पिछड़े हुए देशों के लिए, किन्तु प्रगतिशील तथा विकसित देशों के लिए भी खतरनाक साबित हो सकती है। बिना शारीरिक श्रम किये स्वचालित यंत्रों तथा इसी क़िस्म के साधनों से धन इकट्ठा करना आजकल इतना आसान हो गया है कि इन्सानों में उद्देश्यहीनता और बेकारी की भावना फैल गयी है। किसी भी देश में जब मानवतत्व का ह्रास होने लगता है तो यह बड़ी खतरनाक बात हो सकती है।

प्र. : मैं यह सोच रहा था कि भारत जैसे देश में आर्थिक सह-अस्तित्व की नयी भावना प्रदर्शित करने के उद्देश्य से रूस और अमरीका के सहयोग से एक संयुक्त योजना क्यों न बनायी जाये। मैं समझता हूँ कि आगामी शिखर सम्मेलन में इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अवश्य सोच-विचार किया जाना चाहिए। क्योंकि भारत ने और विशेष रूप से आपने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के एक नये और अधिक सक्रिय सिद्धान्त के द्वारा रूस और अमरीका तथा ख़ुशोव और आइज़नहावर को उनकी "शीत-युद्ध" की स्थिति से बाहर ले आने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग दिया है। चूंकि एक अच्छे काम के करने पर दूसरा अच्छा काम करना स्वाभाविक हो जाता है और अब ये देश राजकीय क्षेत्र में एक दूसरे के समीप आ गये हैं इसलिए यदि वे दुनिया के अविकसित हिस्सों के पुनर्निर्माण में सहायता करने के उद्देश्य से सोवियत-अमरीकी आर्थिक सह-अस्तित्व की दूसरी अवस्था के प्रयोगार्थ भारत को चुन लें तो क्या यह बहुत ही अच्छी बात न होगी?

उ. : हमने उन देशों के लिए कुछ किया हो अथवा न किया हो, यह अलग बात है। किन्तु वे दोनों देश विस्तृत पैमाने पर हमारे साथ सहयोग कर रहे हैं। हमारी विकास योजनाओं के अन्तर्गत भिलाई योजना

और कई अन्य योजनाएँ हैं जो अमरीका, कनाडा और जर्मनी के सहयोग से पूरी की जा रही हैं। हमने संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत आर्थिक सहायता इकट्ठी करने के प्रश्न की हमेशा सिफारिश की है, जिसे दुनिया के अन्य अविकसित देशों के साथ उपयोग में लाने की हमने सहमति प्रकट की है। कुछ हद तक यह कार्य शुरू किया जा चुका है। याद रखने योग्य सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिसे आप आर्थिक सह-अस्तित्व कहते हैं उसके महत्त्व को महसूस किया जा रहा है; यद्यपि यह सच है कि इस समय उसका विकास सहकारिता की अपेक्षा प्रतिस्पर्धा के आधार पर हो रहा है; किन्तु अन्त में प्रतिस्पर्धा की जगह सहकारिता को अपनाया जायेगा, यह निश्चित है।

प्र. : मैं समझता हूँ कि शिखर सम्मेलन में उपस्थित होनेवाले चार महानुभावों को अपनी कार्यसूची में इस समस्या को महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए; क्योंकि अब लगभग सारी दुनिया में उत्तरोत्तर निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किये जाने के फलस्वरूप बहुत भारी रकमें बच जायेंगी, जिनका उपयोग दुनिया के पिछड़े भागों के विकास के लिए किया जा सकता है।

उ. : हमें ऐसी आशा करनी चाहिए। अब आम तौर पर यह महसूस किया जा रहा है कि समृद्धिशील देशों के लिए अविकसित राष्ट्रों के मानदण्ड ऊँचे करने में सहायता देना उतना ही जरूरी है जितना कि पिछड़े हुए राष्ट्रों को स्वयं इस कार्य को तेज़ी से पूरा करना आवश्यक है। शस्त्रों के निर्माण में इस समय जो बड़ी बड़ी रकमें खर्च की जा रही हैं उनका दुनिया की प्रगति में उचित रूप से उपयोग किया जा सकता है। यह दुनिया में सामाजिक तथा आर्थिक सन्तुलन निर्माण करने का सवाल है। यह दुनिया की पैदावार के उचित उपयोग तथा समान बँटवारे का मसला है।

४. एक दशाब्दी का मूल्यांकन

प्र. : चूँकि हम आर्थिक विकास पर चर्चा कर रहे हैं, अतः क्या मैं जान सकता हूँ कि पिछले दशक में या यों कहिए कि जबसे आपने शासन की बागडोर सम्भाली है, तबसे भारत ने जो प्रगति की, क्या आप उससे सन्तुष्ट हैं?

उ. : मैं औद्योगिक विकास से सन्तुष्ट हूँ। हालाँकि हमने कुछ गलतियाँ भी की हैं और इनमें से एक गलती, जो शायद सबसे बड़ी गलती थी, यह रही कि हमने पहली योजना के आरम्भ में ही इस्पात के कारखानों की शुरुआत नहीं की।

प्र. : यह एक भारी गलती थी।

उ. : हाँ, आप इसे भारी गलती या जो चाहे कह सकते हैं। हम कई बातों से मजबूर थे। गलतियों से ही सबक मिलता है, किन्तु आम तौर से औद्योगिक क्षेत्र में हमने उल्लेखनीय प्रगति की है। कृषि में हमारी प्रगति निराशाजनक रही है। ऐसी बात नहीं कि हमने कोशिश न की हो, किन्तु इसमें कुछ हद तक प्रकृति भी हमारे प्रतिकूल रही—बुरा मौसम, खराब फसलें वगैरह और यह भी हो सकता है कि हमारे काम करने का ढंग ऐसा नहीं रहा, जिससे अधिक-से-अधिक कामयाबी हासिल हो सकती। यह एक भारी समस्या है। यह केवल सरकारी हुक्म और कानून का सवाल नहीं, सवाल तो यह है कि पुराने सवालों और तौर-तरीकों में बँधे हुए करीब ३० करोड़ किसानो को किस प्रकार परम्परागत सामाजिक ढाँचे से बाहर निकाला जाय।

प्र. : हर आदमी एक समस्या है, तो ३० करोड़ समस्याएँ हुईं?

उ. : उन्हें परम्परागत तरीकों, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे विचारों और रीति-रिवाजों से बाहर निकालना बड़ा मुश्किल है, पर नामुमकिन नहीं है। मैं

यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि हमारे किसान इतने दकियानूस हैं कि उन्हें बदला नहीं जा सकता। हाँ, वे दकियानूस जरूर हैं और शायद कारखानों के मजदूरों से भी अधिक। वे जो कुछ कर रहे हैं यानी जो उनका काम है, वह उन्हें विरासत में मिला है। उनके लिए यह कोई नयी बात नहीं है। इसीलिए वे पुराने तरीकों से चिपके रहना चाहते हैं; किन्तु यदि उन्हें कोरी दलीलों से नहीं बल्कि व्यावहारिक और ठोस तरीकों के फायदे बता दिये जायें, तो वे अपने तौर-तरीके बदलने के लिए तैयार हो जाते हैं। जब वे अपनी आँखों से देख लेते हैं कि नया तरीका पुराने तरीके से बेहतर है, तो यह बात उनके दिल में बैठ जाती है। हाल ही में दिल्ली में जो कृषि-प्रदर्शनी हुई थी, उससे किसानों ने बहुत कुछ सीखा। करीब दो लाख किसानों ने इस प्रदर्शनी को देखा और खेती करने के नये तरीकों की जानकारी हासिलकर वे अपने-अपने घर लौटे।

बहरहाल, मेरे ख्याल से खेती में औद्योगीकरण की तरह प्रगति नहीं हुई, हालाँकि यह बड़े अफसोस की बात है। यदि हमने जरा और जोर लगाया होता और समय-समय पर मौसम फसलों के अनुकूल रहता तो इससे हमारी अर्थ-व्यवस्था काफी सुधर जाती। आशा है अब हमें बेहतर कामयाबी मिलेगी, और इसके लिए हमारी कोशिशें भी जारी हैं।

प्र. : इस विषय पर फ्रांसीसी कृषि-विशेषज्ञ प्रो. डुमो ने अपनी रिपोर्ट 'भारत में कृषि की विफलता' में यह निराशाजनक मत व्यक्त किया है कि भारत में खेती की पैदावार बढ़ाने में जो रुकावटें हैं, वे प्राकृतिक नहीं, बल्कि मानवीय हैं। वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि गैर-कम्युनिस्ट तरीकों से भारत में जात-पाँत और अन्य भेदभावों को मिटाकर वास्तविक सामाजिक क्रांति हासिल नहीं हो सकती। क्या आपने डुमो-रिपोर्ट पढ़ी है? यदि पढ़ी हो तो क्या आप उस पर चर्चा करने का कष्ट करेंगे?

उ. : जी हाँ, पूरी रिपोर्ट मेरे पास है और न्यू स्टेट्समैन में उसका केवल एक अंश ही प्रकाशित हुआ है। मैंने इस रिपोर्ट के अलावा अन्य विख्यात कृषि-विशेषज्ञों की रिपोर्टों का भी अध्ययन किया है। कुछ विशेषज्ञ प्रो. डुमो से

पूरी तरह सहमत नहीं हैं और अन्य उनसे पूर्णतया असहमत हैं। मैं खुद भी इस विषय के बारे में बहुत-कुछ जानता हूँ। मैं मानता हूँ कि हमने कुछ गलतियाँ की हैं और खेती की तरक्की में कई मानवीय और प्राकृतिक रुकावटें और मुश्किलें हैं—मैं यह सब कुछ कबूल कर चुका हूँ—किन्तु हालत उतनी खराब नहीं है जितनी कि प्रो. डुमो ने बतायी है। मुश्किल तो यह है कि भारत में कृषि की इस समस्या पर देश के हालात और हमारे किसानों के सामाजिक ढाँचे को मद्देनजर रखते हुए ही गौर किया जाना चाहिए। परम्पराओं और रीति-रिवाजों के कारण यहाँ उनका दायरा सीमित हो जाता है और इससे तरक्की धीमी पड़ जाती है। अभी परम्परा को खत्म करना या उन्हें उनके सामाजिक ढाँचे से उखाड़ने का हमारा इरादा नहीं है। हमें तो परम्परा और परिवर्तन के बीच सन्तुलन कायम रखना है और इसमें कुछ समय तो लगेगा ही।

अब मैं कबूल करता हूँ कि तरक्की की मौजूदा रफ्तार से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ, यह मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ। किन्तु जहाँ तक जात-पाँत तथा अन्य भेदभावों का सवाल है, हमने काफी तरक्की की है। हमने जमींदारी प्रथा को खत्म कर दिया है और अब जमीन का पहले से वाजिब बँटवारा किया जा रहा है। जाति और वर्ग-संघर्ष को बढ़ाने के बजाय उन्हें हम शांतिपूर्वक और लोकतांत्रिक तरीके से ही खत्म करने की कोशिश कर रहे हैं। बुनियादी रूप से यह लोगों को तेजी से नये सांचे में ढालने और सदियों से जमा आलस्य को कार्य रूप में बदलने का सवाल है और हमें यह सब कुछ लोकतांत्रिक ढाँचे के अन्दर ही करना है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हम इस दायरे में ही काफी आगे बढ़ सकते हैं, धीमे से ही सही, किन्तु हमारे कदम दृढ़ होंगे और एक बार जब चल पड़े, फिर रफ्तार तेज होती ही जायगी और कदम अधिक विश्वास के साथ उठेंगे। सामुदायिक योजनाएँ आरम्भ की गयी हैं और सहकारी कृषि तथा ग्राम-पंचायतों की दिशा में भी कदम उठाये गये हैं और सहकारी समितियों तथा पंचायतों को अधिक-से-अधिक अधिकार देने की कोशिशें की जा रही हैं।

इसलिए यदि किसी को लोकतांत्रिक तरीके से कामयाबी हासिल करने में सन्देह है तो इससे मैं यह तरीका छोड़ने को तैयार नहीं। बताया गया कि

लोकतांत्रिक और शांतिपूर्ण तरीकों से जल्द तरक्की करना मुमकिन नहीं, इसलिए जोर-जबरदस्ती का तरीका अपनाया जाना चाहिए। मैं इस दलील से बिलकुल सहमत नहीं। बुनियादी तौर पर मैं जोर-जबरदस्ती के तरीके के खिलाफ हूँ। भारत में अब लोकतांत्रिक तरीकों में किसी प्रकार के फेर-बदल से शायद हिंसा बढ़ेगी और सब कुछ अस्तव्यस्त हो जायगा।

प्र. : अस्तव्यस्तता और हिंसा बराबर चुपके-चुपके बढ़ रही है। संग्रहवृत्ति, अकाल, बीमारियों और दवाओं के अभाव के कारण हजारों की संख्या में किसान मरते जा रहे हैं।

उ. : जी हां, मैं यह सब कुछ समझता हूँ। लोकतंत्र और आजादी को सीमित रखना जरूरी है वरना इनसे नुकसान हो सकता है, इस मूल तथ्य से कोई इन्कार नहीं करता। इसीलिए तो देहाती क्षेत्रों में सहकारिताओं और ग्राम-पंचायतों को अधिकार सौंपने का महत्त्व है। हालाँकि संघर्ष, वाद-विवाद और हिंसा मौजूद है, किन्तु हम शांति और सहयोग की भावना से इन्हें दूर करने की कोशिश कर रहे हैं। बड़े-बड़े कामों के लिए समय, सब्र और साधना की जरूरत होती है, फिर हम तो ३० करोड़ किसानों से संबंधित एक भारी समस्या हल करने में लगे हुए हैं।

प्र. : श्रीमानजी, मैं समस्या और कठिनाइयों को समझता हूँ, किन्तु समाजवादी दृष्टिकोण को, जिसे आम तौर पर हमने अपनाया है, सामने रखते हुए, मैं आपसे फिर पूछना चाहता हूँ कि आजादी मिलने के बाद भारत में जो तरक्की हुई है, क्या आपको विश्वास है कि इससे शुरुआत अच्छी हुई है और भविष्य के लिए पक्की नींव डाली गयी है।

उ. : जी हाँ, मैं सन्तुष्ट हूँ कि शुरुआत अच्छी हुई है और विकास के लिए आधार बन गया है। आपका कहना ठीक है कि हमने समाजवादी और सहकारिता का रास्ता अख्तियार किया है। भारत में आम तौर पर राजनीति आर्थिक नीतियों पर ही निर्भर रहती है। देश के आर्थिक विकास के लिए पुराने समय की बेरोकटोक वाली निजी अध्यवसाय की नीति के बजाय हमने नियोजित

और वैज्ञानिक तरीका भी अपनाया है। लोकतांत्रिक नियोजन का अर्थ यह है कि अपने समस्त स्रोतों का उपयोग किया जाय, अधिक-से-अधिक ऐच्छिक श्रम से काम लिया जाय और इन्हें समाज तथा हरेक व्यक्ति की भलाई के लिए सही तरीके से इस्तेमाल किया जाय।

इसलिए संयोग और भाग्य पर भरोसा किये बिना हम सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से आगे बढ़ रहे हैं और जब एक बार यह तय हो चुका है, फिर नियोजन और विकास जैसे मामलों पर सैद्धांतिक वाद-विवाद की गुंजाइश कम होती जाती है। बाद में तो सारी चीज़ गणित का एक फार्मूला बन जाती है।

प्र. : गणित का फार्मूला ?

उ. : करीब-करीब यह गणित का फार्मूला-सा ही है, जिसमें एक या दो अनिश्चित और फेर-बदल वाले पहलू रहते हैं। इनमें इन्सानी पहलू यानी इन्सानों की काबलियत का पहलू ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। मेरा मतलब इन्सानों की दिमागी खूबियों और सख्त मेहनत करने की उनकी लियाकत से है। अब मुझे भारत के इन्सानों की काबलियत—दिमागी काबलियत, तंत्रज्ञान की काबलियत में—कोई शक नहीं रह गया है। मेरे कहने का मतलब यह है कि यदि उन्हें मौका दिया जाय तो वे अपने काम में कुशल और तेज साबित हो सकते हैं; किन्तु जहाँ तक कड़ी मेहनत का सवाल है, इसमें मुझे कुछ शक है।

प्र. : कार्यक्षमता तो है, किन्तु उसे सक्रिय और संगठित नहीं किया गया है।

उ. : बहरहाल शायद यही बात हो, कारण जो कुछ भी हो......

प्र. : और श्रीमानजी, शायद यह खामी आपकी है। आपके अपील करते ही देश की सारी जनता सक्रिय हो सकती है !

उ. : हो सकता है, किन्तु मेरी इस खामी के अलावा अन्य बातें भी हैं। वातावरण तथा अन्य बातों का भी महत्त्व रहता है। ये सब बातें हैं और कुछ अन्य अनिश्चित या परिवर्तनशील पहलू भी हैं, जो काबू में आ सकते

हैं, किन्तु इसमें समय लगता है। इन पहलुओं के अधीन नियोजन और विकास गणित के एक फार्मूले के समान हो गये हैं, जिसे वैज्ञानिक ढंग से हल किया जा सकता है—अर्थात् अब यह प्रमाणित हो चुका है कि यदि ऐसा किया जाय तो निश्चित ही इसका परिणाम ऐसा ही होगा और इसके बाद अगला कदम इस प्रकार होगा और उससे अगला कदम...। "यदि ऐसा किया जाय" की बात तो हमेशा ही रहेगी, किन्तु लोगों की बुद्धिमत्तापूर्ण कार्यक्षमता पर भी यह बहुत कुछ निर्भर रहता है।

आखिर एक राष्ट्र या देश की शक्ति अपेक्षाकृत सीमित होती है। आप इस या किसी दूसरे सही तरीके से इसे बढ़ा भी सकते हैं और खत्म भी कर सकते हैं। शक्ति एक असाधारण चीज है। इसका इस्तेमाल करने से भी इसे बढ़ाया जा सकता है जैसे कि कसरत करने से आप अपनी शारीरिक क्षमता बढ़ा सकते हैं। किन्तु राष्ट्र की एक ऐसी स्नायविक शक्ति भी होती है, जो हमारे बढ़ने के साथ बढ़ती है और दुरुपयोग से बेकार चली जाती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि राज्यों के पुनर्गठन और इसी प्रकार की अन्य बातों पर हम उस शक्ति को खर्च करते हैं, तो ऐसा समझिए कि हमने वह चीज खर्च कर डाली है जिसका हम रचनात्मक और अधिक उपयोगी कामों में इस्तेमाल कर सकते थे। अतः यह भी एक अनिश्चित पहलू है, जिससे नियोजन और विकास में बाधा पहुँचती है।

प्र. : श्रीमानजी, मैं चूँकि बम्बई का निवासी हूँ, जहाँ भाषा के आधार पर राज्यों के गठन और पुनर्गठन का वाद-विवाद अन्य सभी कामकाज पर छा गया है, अतः मैं आपकी दलील को अच्छी तरह समझता हूँ।

उ. : ये सब कठिनाइयाँ सामने आती हैं। ये अपरिहार्य हैं, किन्तु आम तौर पर औद्योगिक विकास के लिए नियोजन को गणित के फार्मूले के ही समान स्वीकार किया जाता है। यह असाधारण बात है कि अमरीकी और रूसी विशेषज्ञ, दोनों ही इस पर सहमत हैं। यदि एक रूसी विशेषज्ञ यहाँ आता है, हमारी योजनाओं का अध्ययन करता है, हमें सलाह देता है और यदि उसका मत किसी अमरीकी विशेषज्ञ के मत के समान ही हो, तो सचमुच यह असाधारण

बात है! दो देशों के, जिनकी राजनीतिक और आर्थिक प्रणालियाँ एक दूसरे से बिलकुल विरोधी हैं, विशेषज्ञों के इस प्रकार के एकमत से मुझे काफी आश्चर्य हुआ है। बात यह है कि ये योजना बनानेवाले और विशेषज्ञ वैज्ञानिक दृष्टिवाले होते हैं और समस्याओं को केवल वैज्ञानिक दृष्टि से ही देखते हैं। इसलिए वे विचारधाराओं आदि को भूल जाते हैं। आम तौर पर वे इस पर एकमत हैं कि विकास की कुछ विशेष शर्तों—औद्योगीकरण इत्यादि—के अधीन निश्चित ही इस प्रकार का परिणाम निकलता है। मैं इन सब बातों में ग़ैर-वैज्ञानिक जैसे लोगों के बारे में बात नहीं कर रहा हूँ, उदाहरण के लिए अमरीकी व्यापारी जो हमेशा निजी अध्यवसाय की ही हाँकेंगे या रूसी राजनीतिज्ञ जो हर समस्या को साम्यवादी या मार्क्सवादी तरीके से ही हल करने की कोशिश करेंगे। वे तो वैसा करेंगे ही। लेकिन वैज्ञानिकों और तंत्रविशेषज्ञों की बात अलग है—चाहे वे रूसी हों या अमरीकी, दोनों एक ही नतीजे पर पहुँचेंगे। इसका कारण यह है कि आजकल के युग में नियोजन और विकास करीब-करीब गणित-जैसे बन गये हैं।

हाँ, इतना जरूर है कि नियोजन के गणित में हमेशा सामाजिक या अन्य प्रकार की समस्याएँ रहती ही हैं। खेती को ही लीजिए, अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं—कृषि का स्वरूप क्या हो? यदि सहकारी किस्म की हो तो फिर किस प्रकार के सहकारी किस्म की—वगैरह। उद्योग के बजाय खेती में ही ये समस्याएं अधिक सामने आती हैं। फिर जनसंख्या जैसी और भी समस्याएँ हैं। अमरीका और रूस को कभी इस समस्या का सामना ही नहीं करना पड़ा है। सोवियत संघ भारत से लगभग आठ गुना बड़ा है, किन्तु वहाँ की जनसंख्या भारत की लगभग आधी है। इस प्रकार भारत की तुलना में वहाँ भूमि और जनसंख्या का अनुपात १६ और १ का है। अतः इन सब बातों से हमारी कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं।

इस प्रकार देखा जाय तो समाजवाद के बारे में हमारा आरम्भिक दृष्टिकोण वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं बल्कि जनसंख्या बढ़ने और विकसित होने के प्रति एक प्रकार से मानवीय दृष्टिकोण है। समाजवाद के वैज्ञानिक पहलू के बारे में तो कोई खास सवाल उठता ही नहीं। उदाहरण के लिए अनुभव से पता चल

है कि औद्योगीकरण एक वैज्ञानिक मामला हो गया है, जो हमेशा लोगों की आगे बढ़ने की क्षमता पर निर्भर रहता है।

प्र. : ऐसा प्रतीत होता है कि आप उद्योग और कृषि में भेद कर रहे हैं, वही फार्मूला—आपके शब्दों में गणित का फार्मूला—जो उद्योग पर लागू होता है, क्या वह औद्योगीकृत कृषि पर लागू नहीं होता ? उदाहरण के लिए, सूरतगढ़ में हमारा यंत्रीकृत बहुउद्देश्यीय फार्म है, जिसने अपने सीमित क्षेत्र में कृषि-उत्पादन में काफी योग दिया है। अब, मान लीजिए कि हम सूरतगढ़ जैसे १०० फार्म स्थापित करें तो क्या इससे सूरतगढ़ की पैदावार १०० गुनी न बढ़ जायगी और क्या इससे देश में अनाज की कमी काफी हद तक दूर न हो सकेगी ?

उ. : हाँ, बढ़ भी सकती और नहीं भी। स्वाभाविक ही है कि सूरतगढ़ जैसे १०० फार्मों से पैदावार को १०० गुना बढ़ाया जा सकता है, किन्तु आपको देश के देहातों के मानव-तत्व को नहीं भूलना चाहिए। हमारे पास आदमियों की कमी नहीं। वे हमारी सबसे बड़ी मशीन हैं, अथवा आप इसे जो कुछ भी समझना चाहें। इस बारे में गांधीजी हमेशा हमसे कहते थे, "आप मशीनों की बात कर रहे हैं, ठीक है, मैं मशीनों के खिलाफ नहीं, किन्तु भारत में हमारे पास ३० करोड़ मशीनें हैं; हम उनका उपयोग क्यों न करें ? वे काम करनेवाले इन्सान हैं—किसान जिनमें काम करने की भारी क्षमता है।"

सवाल तो यह है कि मान लो एक व्यक्ति, सौ व्यक्तियों अथवा हजार व्यक्तियों का काम करनेवाली मशीन हमें मिल जाय, किन्तु ३० करोड़, २० करोड़ या १० करोड़ मशीनें तो बेकार हो जाएंगी न, और वे मशीन मात्र नहीं, बल्कि इन्सान हैं, जिनका भरण-पोषण किया जाता है। इस प्रकार मनुष्यों की—जो रचनाशील और उत्पादनशील हैं—मुख्य समस्या को हल करने का कोई उपाय नहीं। आपने कहा कि हम देश में जगह-जगह सूरतगढ़-जैसे फार्म खोलें, तो यह सवाल उठता है कि आखिर हम अपनी श्रम-शक्ति का क्या करें ?

प्र. : फार्मों का पूरी तौर से यंत्रीकरण न किया जाय। बड़े-बड़े सरकारी फार्म खोले जा सकते हैं, जहाँ अतिरिक्त मजदूर, विशेषकर भूमिहीन मजदूर काम कर सकते हैं। मानव-मशीनें, जैसा कि आपने बताया है, देश में मौजूद हैं, किन्तु हम उन्हें संगठित नहीं कर सके हैं और उन्हें काम पर नहीं लगा सके हैं!

उ. : किन्तु कृषि पर मजदूरों की संख्या वैसे ही जरूरत से बहुत अधिक बढ़ी हुई है।

प्र. : हो सकता है, किन्तु हालत बहुत ही खराब है। प्रो० डुमो की कुछ बातों से आप सहमत न भी हों, किन्तु इस बात का तो स्वयं मेरे पत्रकार-दल ने भी समर्थन किया है, जिसने सारे देश में घूम-घूमकर समस्याओं का अध्ययन किया है। यहां गांवों में कुछ ऐसे भी भूमिहीन मजदूर खेतों पर काम करते हैं, जिन्हें प्रति माह सिर्फ ४–५ रुपये मेहनताना मिलता है। अतः श्रीमान, क्या उन्हें बड़ी संख्या में सरकारी फार्मों में काम पर नहीं लगाया जा सकता?

उ. : ठीक है, उन्हें काम पर लगाया जा सकता है, किन्तु क्या आप यह नहीं समझते कि आज हालत यह है कि भारत के किसी भी खेत में—मेरा मतलब किसानों की निजी कृषि से है—शायद जरूरत से भी अधिक मजदूर काम करते हैं। भूमि पर अत्यधिक दबाव के इसी मसले से तो पिछले १५० या इससे अधिक बरसों से भारत गरीब बना है। यह तो समस्या है कृषि पर निर्भर रहनेवाली आबादी की जो फैक्टरियों में वस्तुओं के निर्माण की तरह तेजी से बढ़ रही है। यही हमारी समस्या है। यूरोप में इसका ठीक उलटा ही हुआ। चेकोस्लोवाकिया और हंगरी-जैसे देशों ने क्रांति के बाद तीव्र गति से औद्योगीकरण करना चाहा और इस काम में उन्होंने इतनी जल्दबाजी की कि कृषि का सत्यनाश हो गया। खेती के लिए तो उनके पास आदमी रहे ही नहीं। अब वे खेती और उद्योग में संतुलन स्थापित की कोशिश कर रहे हैं। लेकिन हमारा मसला तो बड़ा है—अधिक और बढ़ती हुई जनसंख्या ही हमारी समस्या है—क्या खेतों में और क्या फार्मों में। खेती में लगी अतिरिक्त जनशक्ति का हमें उद्योगों में इस्तेमाल करना है।

कृषि के यंत्रीकरण को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला, अच्छे औजार और हलों का इस्तेमाल, जिनसे मेहनत घटती है और उत्पादन बढ़ता है। दूसरा, बड़ी-बड़ी मशीनों का इस्तेमाल जो मजदूरों का स्थान ले लेती हैं। फिर जब मजदूर खाली बैठे हों तो उत्पादन में वृद्धि होने के बजाय कई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। मेरा कहने का मतलब यह है कि अच्छे औजारों का उपयोग होना चाहिए, किन्तु बड़ी मशीनों का नहीं। सोवियत-संघ और अमरीका-जैसे बड़े-बड़े देशों में, जहाँ आबादी अपेक्षाकृत कम है, बड़ी मशीनों की जरूरत पड़ती है। यहाँ हमारे देश की समस्या भिन्न है। बड़ी मशीनों का भी उपयोग होगा। आपने सूरतगढ़ का जिक्र किया। हम सूरत-गढ़-जैसे कुछ और फार्म खोलना चाहेंगे और इन्हें शीघ्र स्थापित करने की हमारी योजना भी है। राजस्थान जैसे कुछ अन्य स्थानों में, जहाँ की आबादी अधिक नहीं है, सूरतगढ़-जैसे फार्म खोलने के लिए अच्छी सुविधाएँ हैं, किन्तु पहले वहाँ सिंचाई की व्यवस्था हो जानी जरूरी है। शायद अगले कुछ वर्षों में भाखड़ा तथा अन्य स्रोतों से अधिक पानी मिल सकेगा, जिससे बड़े फार्मों की स्थापना में सहायता मिलेगी। किन्तु वास्तव में हम इन फार्मों को अंशतः तंत्रज्ञान के प्रयोग के रूप में और अंशतः खाद्यान्न-भण्डार के रूप में समझते हैं, जो आवश्य-कता के समय काम आ सकें। आम तौर से, छोटे किसानों को सहकारी रूप में संगठित करना ही हमारी कृषि-नीति है। जहाँ तक उत्पादन का सवाल है, आज सबसे अधिक उत्पादनवाले देशों में जापान की गिनती है और वहाँ छोटे-छोटे फार्म हैं और मजदूर भी हैं। हम यथासम्भव इसी नमूने को अपनाना चाहते हैं, हालाँकि सूरतगढ़-जैसी यंत्रीकृत कृषि भी होगी।

प्र. : इसलिए कृषि के बारे में हमारा बुनियादी दृष्टिकोण है...

उ. : किसान खुद जमीन के मालिक हों और सेवा-सहकारिता में वे अन्य किसानों के साथ सहयोग करें। वास्तव में हम संयुक्त-कृषि के सिद्धान्त को मानते हैं, और इस समस्या के प्रति हमारा दृष्टिकोण अनिवार्य या कठोर नहीं, किन्तु यह कई बातों पर निर्भर है, जैसे स्वेच्छा से लोगों का इसमें शामिल होना वगैरह।

५. भारत किस ओर ?

प्र. : प्रधान मन्त्रीजी, स्वाधीनता के दस से अधिक वर्षों में हमने अपनी सफलताओं तथा विफलताओं के सम्बन्ध में कृषि और उद्योग के लगभग पूरे क्षेत्र पर सोच-विचार किया है। जिस मार्ग से हम आगे बढ़ना चाहते हैं उसके साधनों तथा साध्यों का संक्षिप्त विवरण देने के लिए क्या मैं आपसे कुछ निवेदन कर सकता हूँ ? श्रीमानजी, सबसे पहले यह बताइए कि वे कौन से उद्देश्य या अन्तिम लक्ष्य हैं जिन्हें प्राप्त करने की हम कोशिश कर रहे हैं ?

उ. : हमारा मुख्य उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करके धीरे-धीरे अधिक-से-अधिक लोगों को रोजगार दिलाने की व्यवस्था करना है। हमें राष्ट्र को औद्योगिक राष्ट्र बनाना है, उत्पादन और आमदनी को बढ़ाना है, राष्ट्रीय तथा प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि करनी है और अपनी अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर तथा आत्मविकसित करना है। जिसे आप अन्तिम उद्देश्य कहते हैं उसके अनुसार हम गरीबी के बन्धन तोड़ देना चाहते हैं और करोड़ों लोगों का जीवन अधिक अच्छा, सुखी और समृद्ध बनाना चाहते हैं। साथ ही हम भारत में और अधिक समानता के आधार पर समाज की रचना करना चाहते हैं। हमने बुनियादी रूप से नियोजित सहकारी अर्थव्यवस्था पर आधारित समाजवादी आदर्श अपनाया है। हमारा यह आदर्श उसके कट्टर और रूढ़िवादी सैद्धान्तिक अर्थ के अनुसार न होकर लचीला तथा व्यावहारिक होगा। हमारे दृष्टिकोण की एक और बुनियादी बात यह है कि हम व्यक्तिगत तथा सामुदायिक रूप से मनुष्य को पूर्ण-समन्वित व्यक्ति के गुण और चरित्र प्रदान करने की व्यवस्था करना चाहते हैं।

प्र. : नेहरूजी, आपने राष्ट्रीय ध्येय का बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। अब मैं आप ही के सम्बन्ध में कुछ पूछना चाहता हूँ। यदि आपको समाजवादी कहा जाए तो क्या यह बात आपको खटकती है ?

उ. : कदापि नहीं। विगत ५० वर्षों से समाजवाद में मेरा विश्वास रहा है। जब तक कोई मुझे गलत साबित न करे, तब तक मैं उसमें विश्वास करता रहूँगा। समाजवादी होने अथवा हमारे उद्देश्यों को समाजवादी उद्देश्य कहने की बात मुझे कदापि नहीं खटकती। प्रत्येक समझदार व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का आदर्श समाजवाद ही तो होना चाहिए। विश्व भर में आधुनिक विचारधारा दिन-ब-दिन समाजवाद की ओर झुक रही है और केवल ऐसे ही लोग उसमें विश्वास नहीं करते जो समकालीन प्रवृत्तियों से बहुत पिछड़े हुए हैं। साथ ही समाजवाद के किसी एक ही सिद्धान्त को मैं नहीं मानता; जैसा कि मैं अपने स्वभाव के प्रतिकूल किसी धर्म या अध्यात्म के किसी विशेष सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता। इसीलिए मैं समाजवाद—अपने समाजवाद या किसी दूसरे व्यक्ति के समाजवाद—के प्रति कड़ा रुख अपनाना नहीं चाहता। सबसे बड़ी बात यह है कि समानता पर आधारित समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दिये जानें चाहिए, या कम-से-कम जहाँ तक अवसरों का प्रश्न हो इसमें किसी प्रकार का भेदभाव अथवा विषमताएँ नहीं होनीं चाहिए। पैसेवालों की फिजूलखर्ची और गरीबों की गरीबी—दोनों असभ्य तथा अपमानजनक बातें हैं और मैं इन्हें खत्म कर देना चाहता हूँ।

प्र. : बड़ी अच्छी बात है श्रीमानजी! अब जब आपने अपने उद्देश्यों की परिभाषा की है तो यह भी बताइए कि उनके साधनों के प्रति आपका क्या दृष्टिकोण है? क्या आप उन्हें वैधानिक क्रांति कहना चाहते हैं?

उ. : हमने संसदीय लोकतन्त्र इसलिए अपनाया है कि आगे चलकर उसके अच्छे परिणाम होते हैं। आखिर, नतीजे ही तो सबसे महत्वपूर्ण बात है; यद्यपि अच्छे साधनों को अपनाना भी उतना ही आवश्यक है।

प्र. : तब क्या यह कहना चाहिए कि वैधानिक क्रान्ति और नियोजित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा धर्म-निरपेक्ष, समाजवादी तथा सहकारी समाज की स्थापना करना हमारा उद्देश्य है; जिसे प्राप्त करने के लिए हम उचित साधन के रूप में संसदीय लोकतन्त्र का प्रयोग करना चाहते हैं?

उ. : मोटे तौर पर यह सही है।

प्र. : श्रीमानजी, हमने साधनों तथा साध्यों की बात पूरी कर ली और मेरे ख्याल से दोनों के प्रति आपके दृष्टिकोण अर्थात् राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बहुत कम लोग गलत साबित करने की कोशिश करेंगे; किन्तु इस युग की सबसे बड़ी विचारधारा के प्रयोगों को आप जिस उपकरण अथवा व्यवस्था के द्वारा कार्यान्वित करना चाहते हैं उसके सम्बन्ध में कुछ सन्देह प्रकट किया जाता है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि इस प्रबुद्ध दर्शन को सुनिश्चित रूप से लागू करने के लिए आप किस प्रकार का संगठन अपने पीछे छोड़ जाना चाहते हैं ?

उ. : इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए कठिन है। जिसे आप उपकरण या संगठन कहते हैं वह आपको काँग्रेस पार्टी, हमारे संसदीय लोकतंत्र या स्वयं अपने देश या लोगों में दिखाई देगा। काँग्रेसी आन्दोलन के इतिहास से यह देखा जा सकता है कि उसकी मुख्य धारा उत्तरोत्तर सदा प्रगतिशील और लोकतन्त्रात्मक प्रवृत्तियों की ओर बढ़ती चली आयी है। यह सच है कि इस दिशा को न केवल परिवर्तित करने बल्कि उलटा करने की भी कोशिशें की जा चुकी हैं। परन्तु इस संघर्ष में प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी तत्वों पर सदा प्रगतिशील शक्तियों की विजय हुई है। इसके अतिरिक्त यदि आप यह सुझाव देना चाहते हैं कि मुझे इसके लिए किसी गुट आदि का संगठन करना चाहिए, तो मैं इस बात के खिलाफ हूँ। किसी भी ऐसे गुट की प्रवृत्ति पंथवादी हो जाती है। आजकल भारत में इस प्रवृत्ति को देखते हुए ऐसे गुट की पैदाइश से तुरन्त उसका विरोधी गुट तैयार हो जायेगा। धर्म, राजनीति और अन्य विषयों में पंथ स्थापित करने की हममें बहुत ही पुरानी प्रवृत्ति है। आप जानते ही होंगे कि सन्त कबीर समाज-सुधारक थे और उनके बाद कबीर-पंथ चल पड़ा। कहने का मतलब यह है कि ऐसी चीज़ से संघर्ष और प्रति-संघर्ष उपस्थित हो जाते हैं, जिससे केवल राष्ट्र की शक्ति कम होती है।

प्र. : श्रीमानजी, आपने शायद मेरे सवाल को गलत समझा है। मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि आपके आदर्शों तथा विचारों का पालन करनेवाली किसी ऐसी पार्टी की स्थापना करना आपने कभी आवश्यक न समझा जिसमें नेहरू-पद्धति या भारतीय मार्ग के कार्यकर्ता हों। आपके सार्वजनिक

जीवन में यह सबसे बड़ी खामी मालूम होती है; क्योंकि इतने बड़े प्रयोग को लागू करने तथा जारी रखने की जिम्मेदारी आपने कुछ ऐसे लोगों को सौंप दी है, जिनका आपकी आस्था में विश्वास नहीं है। तो क्या इसका यह मतलब नहीं कि आपने अपने दर्शन को निष्क्रिय बना दिया है और इतिहास की जरूरत के प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं निभायी है?

उ. : हो सकता है, यह मेरी कमजोरी रही हो। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करना पड़ता है। किसी ऐसे गुट अथवा दल का निर्माण करने में मुझे सदा सन्देह रहा है। इसका यह मतलब नहीं कि मैं ऐसी राजनीतिक पार्टी नहीं चाहता जिसे मेरे आदर्शों से लगाव हो। मै चाहता हूँ कि मेरे आदर्शों से प्रेरणा लेकर एक राजनीतिक पार्टी स्थापित हो। मोटे तौर पर कहा जाये तो मेरे ख्याल से काँग्रेस ही ऐसी पार्टी हो सकती है। यह मैं स्वीकार करता हूँ कि इस पार्टी में मतभेद जरूर हैं। क्योंकि लोकतन्त्र के आधार पर संगठित किसी भी पार्टी में इस प्रकार के मतभेद जरूर होते हैं। किन्तु मैं यही कहूँगा कि आम तौर से काँग्रेस पार्टी किसी नेहरू-आदर्श या अन्य व्यक्तिगत दृष्टिकोण से प्रेरित नहीं हुई है। उसे बुनियादी और भारतीय, आधुनिक व वैज्ञानिक अर्थात् समाजवादी दृष्टिकोण से प्रेरणा मिली है जो आधुनिक युग का एक ही सम्भव रास्ता है। वह राष्ट्रीय आदर्श से इस प्रकार प्रेरित हुए बिना नहीं रह सकती, क्योंकि वह उसी का एक अंग है। तब फिर वह उससे किस तरह अलग हो सकती है।

प्र. : यह सब कुछ मान लिया जाये, तो भी श्रीमानजी, यह बताइए कि नेहरू-सिद्धान्त के कार्यकर्ता कहाँ हैं? राष्ट्रीय सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए देश के नौजवानों को क्यों संगठित नहीं किया जाता? क्या बात है कि छात्रों, मध्यमवर्ग के लोगों और विशेष रूप से किसानों की निराशाओं से अनुचित लाभ उठाकर उन्हें स्वतन्त्र पार्टी जैसे दलों द्वारा नेहरू तथा काँग्रेस से जुदा किया जा रहा है? जरूर कहीं किसी चीज की कमी है।

उ. : इसे नेहरू-सिद्धान्त न कह कर, राष्ट्रीय आदर्श कहना उचित होगा। यह राष्ट्रीय आदर्श ठोस नींव पर खड़ा है और उस पर किसी विशेष दल

का अधिकार नहीं है। जहाँ तक मेरा ख्याल है यह आदर्श आम लोगों की आकांक्षाओं तथा आशाओं का प्रतीक है। यह सच है कि कुछ तत्व इस नींव को हिलाने या नष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं। आपने स्वतन्त्र पार्टी का जिक्र किया हैं। इस पार्टी ने ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जो हमारे दृष्टिकोण के बिल्कुल उलटा है।

प्र. : यह तो प्रति-क्रांति का सिद्धान्त है न?

उ. : आप उसे प्रति-क्रांति कह सकते हैं और जैसा कि आप जानते हैं, उसका हमारी घरेलू तथा विदेशी नीति पर प्रभाव पड़ता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि वह सिद्धान्त हमें पूरी तरह अतीत की ओर ले जायेगा। वे लोग हमारी कई समस्याओं, कठिनाइयों तथा नाकामयाबियों से अनुचित लाभ उठाकर राष्ट्र की नींव को हिला देने की कोशिश कर सकते हैं। यह ऐसी मनोवृत्ति है जो फासिज्म को जन्म देती है। मैं इस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहता; किन्तु, भारत जैसे विशाल देश में ऐसे तत्व भी विद्यमान हैं जो उसकी ओर झुक सकते हैं। एक तरफ वे धर्म-धर्म की दुहाई देकर रचनात्मक आर्थिक नीतियों तथा राजनीतिक प्रश्नों को अस्पष्ट और भ्रांतिपूर्ण बना देते हैं और दूसरी तरफ भ्रष्टाचार के मनमाने आरोप लगाते फिरते हैं। आखिर क्यों? इसलिए कि धर्म की हिमायत करने में किसी प्रकार के तर्क की जरूरत नहीं होती। धर्म तभी अच्छा होता है जब वह बुद्धिसंगत हो और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विपरीत न हो, किन्तु आप ही देखिए, स्वतन्त्र पार्टी के लोग जो कुछ करना चाहते हैं। अब भ्रष्टाचार को लीजिए। भ्रष्टाचार की आलोचना करने के लिए किसी तर्क की ज़रूरत नहीं पड़ती। हर कोई चाहता है कि भ्रष्टाचार न हो और उसे खत्म करना चाहिए। इस प्रकार स्वतन्त्र पार्टी भ्रष्टाचार के नाम पर 'भेड़िया आया, भेड़िया आया' की चीखपुकार करके अपने राजनीतिक दृष्टिकोण और आर्थिक सिद्धान्तों के अभाव को छिपाना चाहती है।

औसत रूप से भारत के लोग अक्लमन्द व समझदार हैं और वे भले-बुरे का फर्क समझते हैं। आप उनसे बात करके देखिए तो वे आपसे राजनीति, अर्थशास्त्र या दूसरे अहम विषयों पर चर्चा करना चाहेंगे। जिन लोगों के

पास अपना कोई दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त नहीं है उनकी कोई परवाह नहीं करता। वे बड़े-बड़े किसानों पर प्रभाव डाल सकते हैं और जिन्हें आप छात्र और मध्यम-वर्ग के लोग कहते हैं उनकी निराशाओं से वे अनुचित लाभ उठा सकते हैं। किन्तु, इसके अतिरिक्त वे कर भी क्या सकते हैं? अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए वे भ्रष्टाचार की चिल्ल-पों शुरू कर देते हैं। यह बड़ी अजीब बात है कि एक पार्टी में संगठित होने का दावा करनेवाले लोगों की अपनी कोई विचारधारा नहीं है। यदि भ्रष्टाचार हो तो उसका पता चलाने, उसके लिए दण्ड देने और उसे खत्म करने का आपको पूरा अधिकार है। किन्तु 'भ्रष्टाचार-भ्रष्टाचार' की बेकार चिल्ल-पों से आप भ्रष्टाचारी लोगों को पकड़कर कैसे सज़ा दे सकेंगे और कैसे भ्रष्टाचार खत्म कर सकेंगे?

प्र. : खैर, स्वतन्त्र पार्टी की बात जाने दीजिए। मेरे ख़्याल से बड़े बड़े लोगों के भ्रष्टाचार को प्रकाश में लाना आवश्यक है। किसी ऐसे एक-दो मामलों पर उदाहरण के तौर पर विचार कीजिए। लोगों को यह दिखा दीजिए कि आप सचमुच कुछ करने पर तुले हुए हैं। तभी वे वाकई खुश होंगे। लोग चाहते हैं कि भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ किया जाये और भ्रष्टाचारियों को चेतावनी के तौर पर कड़ी से कड़ी सज़ा दी जाये।

उ. : जब भ्रष्टाचार के मामले हमारे सामने लाये जाते हैं, तो हम उनकी जाँच करने की व्यवस्था करते हैं। भ्रष्टाचार के वास्तविक मामलों में कड़ी से कड़ी सज़ा दी जानी चाहिए। यदि आप ऐसा कोई मामला ले आयेंगे तो हम उसकी जांच जरूर करेंगे और तब मैं चाहता हूँ कि लोग न्याय के लिए लड़ें और न्याय करवा कर रहें। यह बात तो मेरी समझ में आती है। किन्तु, हर किसी के भ्रष्टाचारी होने की सिर्फ़ चीख-पुकार से भ्रष्टाचार का वातावरण ही पैदा होगा। लोग यह समझेंगे कि उनके चारों ओर भ्रष्टाचार फैला हुआ है; जिसके परिणामस्वरूप वे स्वयं भ्रष्टाचारी बन जाएंगे। एक साधारण आदमी यह सोचने लगेगा कि जब सभी भ्रष्टाचारी हैं, तो मैं भी क्यों न भ्रष्टाचारी बनूँ? कुछ इसी प्रकार का वातावरण बनाने की कोशिश की जा रही है, जिसका हमें विरोध करना चाहिए।

इसमें एक और खतरा यह भी है कि अक्सर जो खुद भ्रष्टाचारी होता है वही भ्रष्टाचार के विरुद्ध सबसे अधिक ज़ोर-शोर से चिल्लाना शुरू कर देता है। चोर की तरह वह खुद 'चोर-चोर' की आवाज़ लगाकर बचने की कोशिश करता है। इस तरह जब सभी भ्रष्टाचार की चिल्लापों शुरू कर देंगे तो भले-बुरे लोगों की पहचान करना बड़ा कठिन हो जाएगा। भारत में यह एक बुरी बात है। इससे हमारे राजनीतिक विचारों की कमज़ोरी मालूम होती है।

प्र. : श्रीमानजी, शायद यह स्वयं लोकतन्त्र की कमज़ोरी है कि यहाँ भ्रष्टाचार की घटनाएं और उनके बारे में फालतू बातें हो रही हैं।

उ. : लोकतन्त्र की कमज़ोरियों को मानव स्वभाव की कमज़ोरियाँ कहना अधिक बेहतर होगा। मानव समाज में जो कुछ भी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ पायी जाती हैं वे सभी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में दिखाई देती हैं। उसे आप कमज़ोरी कह सकते हैं, किन्तु वास्तव में उससे लोकतन्त्र को भविष्य में स्थायी और टिकाऊ ताकत मिल जाती है। केवल इसी की सहायता से हम प्रतिक्रिया-वाद का सामना करके राष्ट्रीय नीतियों को सुनिश्चित रूप से जारी रख सकते हैं। इसलिए लोकतन्त्र के अपने दृष्टिकोण के आधार को, सिर्फ इस कारण से कि हम किसी न किसी संकट से घिरे रहते हैं, बदलना न तो ठीक है और न खतरे से ही खाली है। ठीक तो यही है कि लोकतान्त्रिक संस्थाओं को मजबूत करके किसी भी नयी चुनौती का सामना करने के लिए उन्हें सुव्यवस्थित किया जाय। हम निष्ठापूर्वक इस काम में जुटे हुए हैं।

प्र. : कॉंग्रेस को स्वतन्त्र पार्टी की चुनौती के बारे में क्या आप इस मत से सहमत हैं कि इस प्रकार की प्रतिक्रियावादी पार्टी की पैदाइश से देश में वामपंथी व दक्षिणपंथी शक्तियों में गड़बड़ और तीव्र मतभेद फैलेगा; जिससे कॉंग्रेस समाजवाद की ओर अधिक झुकने को मजबूर होगी ?

उ. : दरअसल मैं वामपंथी और दक्षिणपंथी जैसे शब्दों में उलझना नहीं चाहता। कुछ भी हो, मेरे ख़्याल से ऐसी गुटबन्दी से वैसी प्रक्रिया नहीं हो

सकती जैसा कि आप समझते हैं। स्वयं कॉंग्रेस में ही समाजवाद की ओर बढ़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कॉंग्रेस में हमेशा दो प्रकार की शक्तियाँ रही हैं। एक, बुनियादी धारा है जो इस पार्टी को जरूरी तौर से समाजवाद की ओर ले जा रही है। यही बुनियादी ताक़त है। दूसरी धारा बनावटी धाराओं से बनी है, जो कभी आगे बढ़ती और कभी पीछे हटती है। इसका कोई महत्त्व नहीं है। बुनियादी धारा ही पार्टी को गतिशील बनाती है और बुनियादी तथा बनावटी दोनों ताकतों को प्रगतिशील दिशाओं में ले जाती है। सन् १९४७ से यही होता आ रहा है। शायद इसी बीच कुछ रुकावटें भी पैदा हुई हों और अक्सर कहीं-कहीं प्रगति भी धीमी पड़ी हो, किन्तु, मोटे तौर से बुनियादी समाजवादी धारा से ही पार्टी आगे बढ़ रही है।

प्र. : नेहरू के बाद नेहरूवाद के जारी रहने की इस उत्साहजनक गारन्टी के लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। फिर भी श्रीमानजी, अपनी दलील पर अड़े रहने के लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि आपके आदर्श को आगे जारी रखने के लिए कार्यकर्ताओं को—उन कॉंग्रेसी नवयुवकों को जो आपको अच्छी तरह समझते हैं—संगठित करने के लिए क्या आप दिन में एकाध घंटे का समय नहीं दे सकते? उनकी यह शिकायत है कि आप उन पर ध्यान नहीं देते।

उ. : आखिर वे कहना क्या चाहते हैं?

प्र. : वे कहते हैं, आप उनका मार्गदर्शन नहीं करते, और उन्हें प्रोत्साहन देकर उनकी श्रेष्ठता की परख करके उनका उत्साह नहीं बढ़ाते, जैसा कि गान्धीजी किया करते थे।

उ. : हाँ, गान्धीजी में लोगों के श्रेष्ठ गुणों की परख करने की आश्चर्यजनक क्षमता थी। शायद मुझमें वैसी क्षमता न हो। लोगों के विचारों पर रोक नहीं लगाई जा सकती। यह मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध है। मैंने जनता से सम्पर्क स्थापित करने, सार्वजनिक सभाओं में भाषण देने और छोटे समूहों से विचार विनिमय करने का मार्ग अपनाने पर सदा ज़ोर दिया है। मेरा

ख़्याल है कि लोगों के विचारों को बदलने और किसी घटना के बारे में सही प्रतिक्रिया का निर्माण करने का यह बड़ा प्रभावशाली तरीका है। मेरी राय से आम लोग इसी तरीके के कारण समाजवादी वृत्ति के बन गये हैं। मेरा अधिक समय इसी काम में खर्च होता है। हर रोज़ मैं अपने घर पर सैकड़ों लोगों से बातचीत करता हूँ।

प्र. : मेरा ख्याल है कि आप खास तौर से किसानों से ही बातें करते होंगे।

उ. : हाल ही में खत्म हुई कृषि-प्रदर्शनी के सिलसिले में कई किसान आये थे। किन्तु अक्सर किसान, मज़दूर और ख़ास तौर से कई छात्र आते हैं, और रोज़ आते हैं। आज सवेरे मेरे घर ३०० से ४०० तक लोग आये होंगे। कोई पंजाब के रोहतक से, कुछ मैसूर से, तो कोई महाराष्ट्र के सतारा जिले से और अनुसूचित जातियों के लोगों का जमघट बना ही रहता है। जहाँ तक सम्भव होता है मैं उनसे बातें करने के लिए समय निकाल ही लेता हूँ।

प्र. : क्या आप उन्हें कोई सीख देते हैं, उनका मत परिवर्तित करते हैं ?

उ. : मैं उन्हें कोई सीख नहीं देता अथवा उनके विचार बदलने की कोशिश नहीं करता। जहाँ तक होता है सरलता से मैं उनके मसलों के बारे में उनसे बातचीत करता हूँ। वे मेरे पास राजनीतिक अथवा आर्थिक विषयों पर भाषण सुनने के लिए नहीं आते; किन्तु यदि मैं उनकी कठिनाइयों के बुद्धिसंगत तथा वैज्ञानिक हल बताने में उनकी मदद कर सकूँ तो महसूस करता हूँ कि मैंने अपना कर्त्तव्य किया है और शायद व्यापक राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से उनके विचारों को बदल दिया है। जब मैं किसानों से मुलाकात करता हूँ तो हम खेती, उनकी हालत सुधारने, अच्छे तरीकों को काम में लाने, सहकारी खेती आदि विषयों पर बातचीत करते हैं। उनके अपने धन्धों तथा मसलों को मद्देनज़र रखते हुए हमारे दृष्टिकोणों तथा सिद्धान्तों को अपनाने की आवश्यकता उन्हें समझाने की मैं कोशिश करता रहता हूँ। इन सब बातों के कारण लोगों को शिक्षा मिल जाती है और वे मोटे तौर पर प्रगतिशील दिशा में सोचना तथा काम करना सीख जाते हैं।

प्र. : बड़ा ऊँचा ख्याल है नेहरूजी, यदि मैंने आपको ठीक समझा है, तो मेरे ख्याल से आप दल या गुट संगठित करने के बजाय हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दर्शन के लिए विस्तृत रूप से एक सर्वसाधारण राष्ट्रीय आधार स्थापित करना चाहते हैं किन्तु; क्या आप सर्वसाधारण भारतीय लोगों को इतने समझदार, जाग्रत और ताकतवर समझते हैं कि वे प्रति-क्रान्ति की कोशिशों का मुक़ाबला कर सकेंगे? आपने कहा है कि देश में ऐसे फ़ासिस्ट-तत्व भी मौजूद हैं जो प्रगति के यन्त्र को पीछे ले जाना चाहते हैं।

उ. : फासिस्ट तत्व, प्रति-क्रान्तिवादी तत्व और ऐसे कई तत्व तथा मनोवृत्तियाँ विद्यमान हैं। भारत जैसे विशाल देश में उनका पाया जाना ज़रूरी है। हाल ही में बिहार में एक बड़े मेले के समय पर किसी ने यह अफवाह फैला दी थी कि मुसलमानों ने गायों का वध किया है। यह निन्तात झूठ था; किन्तु उससे साम्प्रदायिक भावनाएं भड़कीं और कुछ भद्दी घटनाएं घटीं। इस तरह ऐसी घटनाएं होती ही हैं; यद्यपि मोटे तौर पर लोगों का हमारे राष्ट्रीय धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्त में विश्वास है। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि अन्य लोगों की तरह हमारे देश के लोगों में फासिस्ट अथवा साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों और प्रभावों का मुकाबला करने की शक्ति तथा समझदारी है या नहीं।

साथ ही मैं यह कहूँगा कि आम तौर पर भारतीय लोग दुनिया के अन्य लोगों से अधिक सौम्य हैं। वे स्वभाव से ही शान्ति-प्रेमी हैं और न केवल मानवों किन्तु पशुओं के साथ भी वे हिंसात्मक व्यवहार नहीं करना चाहते।

प्र. : किन्तु जो व्यक्ति कभी मच्छर तक मारने की हिम्मत नहीं करता, वही व्यक्ति अपने आय-कर के घोटालों की जानकारी अपने एकाउण्टेण्ट द्वारा अधिकारियों को दिये जाने पर उसे पाँचवीं मंजिल से उठाकर नीचे फेंक देने से नहीं घबराता! मैं कुछ ऐसी घटनाएं जानता हूँ...

उ. : यह बिल्कुल सही है। इस विरोधाभास के सम्बन्ध में मैं अपने विचार प्रकट करना चाहता था। देश के विभाजन और आजादी के बाद मैंने जो कुछ देखा उससे मुझे बड़ा विस्मय और दुःख हुआ : दिल्ली, पंजाब और अन्य स्थानों में हत्या, क्रूरता और हैवानियत की जो घटनाएं हुई थीं उन्हें

देखकर यह विश्वास नहीं होता कि ये वही लोग हैं जो आम तौर पर इतने सरल और दयालु दिखाई देते हैं।

प्र. : इसे तो हमारे राष्ट्रीय चरित्र का विरोधाभास कहना चाहिए।

उ. : यह केवल हमारे राष्ट्रीय चरित्र के सम्बन्ध में ही सही नहीं है। विगत महायुद्ध में और उसके बाद जापानियों के अत्याचारों से मुझे बड़ा दुःख हुआ था। जब मैं दो-तीन वर्ष पहले जापान गया, तब मुझे ये सारी बातें याद थीं। किन्तु, वहाँ के लोग बड़े ही दयालु दिखाई दिये जिसे देखकर मैं अचरज में पड़ गया। वे बहुत ही विनम्र, सुसंस्कृत, आतिथ्य-प्रेमी, परिश्रमी और कलाप्रेमी लोग हैं। इस प्रकार, लोगों में अच्छाई और बुराई दोनों बातें एक साथ पायी जाती हैं। मेरे ख्याल से हमें बुराई पर विजय पानी चाहिए और तभी मानवता प्रगति कर सकती है।

इस तरह यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि भारत या अन्य कोई भी देश बुराइयों, प्रतिक्रियावादी और फासिस्टी शक्तियों आदि से बिल्कुल अछूता रह सकता है। शायद यही बात है कि भौतिक विकास के साथ साथ लोगों के नैतिक आचरण और आध्यात्मिक चरित्र पर भी उचित ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। इससे महात्मा बुद्ध और गान्धीजी जैसे बड़े बड़े व्यक्तियों का मानवता के लिए कितना बड़ा महत्त्व होता है, यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है। वे, लोगों को ऊँचा उठाकर उनमें उद्देश्य और ध्येय की भावना जाग्रत करते हैं और ऐसे आध्यात्मिक अनुशासन पर ज़ोर देते हैं, जिसके अभाव में यह संसार मानवीय भावनाओं का भयानक जंगल बन जायेगा। आखिर और बातों के साथ-साथ सभ्यता का स्वरूप उसकी शक्ति और अनुशासन के लक्षणों से पहचाना जाता है।

प्र. : श्रीमानजी, क्या आपका यह मत है कि भौतिक प्रगति हो जाने और नैतिक शक्ति प्राप्त हो जाने के बाद भारतीय लोग यंत्र को उलटा घुमा देने की किसी भी कोशिश का डटकर मुकाबला कर सकेंगे, जबकि हमारी क्रान्ति का सामाजिक तथा आर्थिक आधार अब तक कमज़ोर और अधूरा है?

उ. : एक बार लोगों को लोकतन्त्रात्मक आधार उचित रूप से बता देने के बाद जनता को किसी दूसरी दिशा में ले जाना या पीछे हटाना बहुत ही मुश्किल होगा। यह सही है कि कांग्रेसकी प्रगति की गति घटायी और बढ़ायी जा सकती है, किन्तु मेरे ख्याल से पूरे राष्ट्र को अतीत की ओर ले जाना असम्भव होगा। जैसा कि आपने कहा है हमारी क्रान्ति कमजोर तथा अधूरी हो सकती है, किन्तु, हमारी योजनाओं और स्वय नियोजन के सिद्धान्त के कारण कुछ ऐसी शक्तियाँ काम कर रही हैं जिन्हें कभी भी रोका अथवा उलटा नहीं जा सकेगा। इस समय पीछे हट जाने के विरुद्ध लोगों की 'आशा की सतह' को बेहतरीन संरक्षण समझना चाहिए। लोगों की आशा और आस्था कम करके सम्भवतः इस उद्देश्य को नाकामयाब किया जायेगा; किन्तु, दूसरी और तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं का कार्य शुरू हो जाने के बाद हम आलस्य, गरीबी और पिछड़ेपन की सीमाएं लाँघ कर आगे बढ़ जायेंगे अर्थात् हमारी अर्थव्यवस्था स्वयं अपनी शक्ति से अपना विकास करने के योग्य बन जायेगी। संसदीय लोकतन्त्र के सहयोग से प्राप्त लोगों के समर्थन से ऐसा विकास हो जाने के बाद हमारे प्रयोग को जारी रखना मुश्किल न होगा।

प्र. : इस प्रबुद्ध तर्क के लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूं। आपने उत्तराधिकार के प्रश्न को उचित सन्दर्भ में और सही ढंग से प्रस्तुत किया है। यदि आप मुझे अपने शब्दों में यह बात कहने की अनुमति दें तो मैं यह कहूँगा कि श्री नेहरू चेतन नहीं तो कम से कम अचेतन रूप से क्या सोचते रहते हैं: अपनी विचारधारा के अनुरूप किसी दल, गुट अथवा कार्यकर्ताओं को संगठित करने की उनकी विफलता अथवा निर्माण न करने की पूर्ति सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने समर्थकों की भूमि में परिवर्तित करने के उनके उस महान प्रयास से हो जाती है जो अन्त में हमारी नीति के बुनियादी यन्त्र को पीछे ले जाने की चेष्टा करने वाले किसी भी नेता अथवा गुट के खिलाफ शक्तिशाली राष्ट्रीय रोक का कार्य करेगा। इसे चीनियों की 'कम्यून्स' या ज़ोर-जबरदस्ती की पद्धति का भारतीय लोकतांत्रिक विकल्प कहने पर आप सहमत होंगे ?

उ. : हम विकल्प के रूप में चीनियों की अथवा और दूसरी संस्थाओं की

पद्धति के बारे में नहीं सोचते। हमारी परम्पराओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार हम अपना मार्ग विकसित करना चाहते हैं। नीतियों के लिये जन-आधार क़ायम करने और उन्हें जारी रखने के लिए शक्तिशाली जन-मत तैयार करने का सिद्धान्त उतना ही गान्धीवादी मार्ग अथवा तरीका है जितना कि वह मार्क्सवादी साम्यवाद या अन्य तरीका हो सकता है। आज के युग में विस्तृत रूप से लोगों के संगठित समर्थन के बिना किसी लोकतन्त्रात्मक अथवा साम्यवादी राष्ट्र का कार्य नहीं चल सकता। यद्यपि लोगों का सहयोग प्राप्त करने के कई अलग अलग रास्ते और उपाय हैं। हमारे देश में गान्धीजी ने लोगों को आन्दोलित करने, उनकी निष्क्रियता को क्रियाशीलता में परिवर्तित करने और उन्हें उचित दिशा में आगे बढ़ाने का बड़ा सुन्दर और प्रभावशाली तरीक़ा ढूँढ निकाला था। गान्धीजी का यह तरीका हमें विरासत में मिला है। इस प्रकार की जन-जागृति अवश्य ही किसी भी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध रुकावट का कार्य करेगी जो राष्ट्र को अतीत की ओर ले जाने की कोशिश करेगा।

प्र. : श्रीमानजी, आपने नेहरू के बाद के भारत का धुंधला-सा आभास दिया है। इस वार्ता के अन्त में शायद मैं फिर से इस विषय पर बातचीत करूँगा।

६. विकास का लोकतांत्रिक तरीका

प्र. : नेहरूजी, आपने बताया कि मौजूदा समय में नियोजित विकास, जिसे हमने अपनाया है, कुछ परिवर्तनशील तत्वों को छोड़कर गणित के फार्मूले के समान बन गया है। मैं समझता हूँ कि परिवर्तनशील तत्वों में मानव-तत्व सबसे महत्त्वपूर्ण है, यानी योजना के कार्यान्वय के लिए लोगों को संगठित करने की आवश्यकता। इससे, समय बदलने के साथ-साथ पुरानी व्यवस्था को भी बदलना जरूरी हो जाता है और उद्योग के बजाय कृषि पर ही यह बात अधिक लागू होती है। हमें नया राजनीतिक नेतृत्व भी कायम करना होगा और भारत के मामले में शायद नया राजनीतिक लगाव भी जरूरी हो; फिर सेवा-सहकारिता जैसी आवश्यक व्यवस्था पर आधारित नयी प्रशासनिक प्रणाली अपनाने की भी जरूरत पड़ेगी और विकास योजनाओं के कार्यान्वय में लोगों का सहयोग प्राप्त करने के लिए भारत-जैसे बड़े देश में कम-से-कम १० लाख कर्मचारियों की भी जरूरत पड़ेगी।

उ. : जाहिर है कि किसी भी काम में मानव-तत्व सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल तत्व है। इस मानव-तत्व में लोगों की कुछ विशेषताएँ निहित हैं, जैसे प्रशिक्षण, बौद्धिक या अन्य प्रकार की योग्यता, साथ ही काम करने के लिए कुछ जोश भी होना चाहिए। विभिन्न देशों में ये जरूरतें भी अलग-अलग होती हैं। मेरे ख्याल से यह अर्थशास्त्र का विषय नहीं। यदि इस्पात का कारखाना खोलने की योजना बनायी जाती है और उसका निर्माण भी हो जाता है, तो इसके बाद वहाँ काम करने के लिए आदमियों की जरूरत पड़ती है और इसी प्रकार की अन्य जरूरतें भी। बौद्धिक दृष्टि से कोई देश पिछड़ा भी हो सकता है। इस प्रकार इस सवाल का जवाब देश के हालात, वातावरण और कई अन्य बातों पर निर्भर है।

दूसरे, यह निर्धारित लक्ष्यों पर भी निर्भर है। यह बात महत्त्वपूर्ण है। नये कारखानों की स्थापना, अच्छी खेती, अच्छे औजार, काम करने के अच्छे और आधुनिक तरीके—योजना बनाते समय इन बातों पर विचार करना पड़ता है, लेकिन इसमें भी फिर मानव-तत्व का ध्यान रखना पड़ेगा।

प्र. : भारत के बारे में ये बातें कहाँ तक लागू होती हैं?

उ. : जहाँ तक भारत का सवाल है, यहाँ बुनियादी योग्यता—बौद्धिक और श्रमगत—काफी मात्रा में है, मेरा मतलब कुशल कारीगरों से है। यदि उचित अवसर दिया जाय तो भारतीय बारीक से बारीक काम में भी निपुण बन सकते हैं। आम तौर पर भारत में अधिकांश कच्चा माल भी मिलता है। इस प्रकार औद्योगिक प्रगति के लिए हमारे पास कुछ जरूरी सामग्री मौजूद है। यदि पिछली सदी या इसके भी पहले विकास में रुकावटें न डाली जातीं, तो शायद भारत और भी तेज रफ्तार से आगे बढ़ जाता।

प्र. : अब भी तो हम तेज रफ्तार से आगे नहीं बढ़ रहे हैं, क्योंकि पुरानी प्रशासनिक व्यवस्था को जारी रखा गया है। अतः सवाल यह है कि नये जमाने में पुरानी व्यवस्था को बदलने और नया दृष्टिकोण अपनाने पर क्या हम आवश्यक ध्यान दे रहे हैं?

उ. : जी हाँ, हम इस ओर जरूर ध्यान दे रहे हैं। लेकिन आपने जो सांस्थानिक फेर-बदलों का जिक्र किया है, वे दरअसल सांस्थानिक फेर-बदल कतई नहीं हैं। आपने नेतृत्व और नये राजनीतिक सम्बन्धों का भी जिक्र किया है; लेकिन वे सांस्थानिक फेर-बदल हैं ही नहीं। इस सवाल को हल करने के दो बुनियादी तरीके हैं; हालाँकि इन दोनों के बीच और तरीके भी हो सकते हैं। एक यह तरीका है, जिसे आम तौर पर सत्तावाद कहा जा सकता है, यानी जिसमें देश की सरकार या सरकार का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों का गुट आम तौर पर लोगों के साथ मनमानी करता है, जो जी में आये करता है, और लोगों से कड़ी मेहनत करवायी जाती है; किन्तु इस प्रकार के दबाव के लिए भी व्यापक प्रचार और लोगों को राजी करने की जरूरत रहती है। यह

केवल हुक्म देने से ही नहीं हो जाता, बल्कि लोगों के विचारों को बदलने की भी कोशिश की जाती है, जिससे उसे वे कबूल कर लें, क्योंकि लोगों के विचारों को प्रभावित किये बिना उन्हें किसी काम के लिए मजबूर करना भी सरल नहीं। सामान्यतया लोग जितनी मेहनत कर सकते हैं, उनसे उससे अधिक मेहनत करवाना और उनकी इच्छा के खिलाफ किन्हीं विशेष तरीकों से उन्हें काम करने के लिए मजबूर करना ही, आम तौर पर सत्तावाद कहा जाता है।

दूसरे तरीके को लोकतांत्रिक तरीका कहा जा सकता है; जिसमें प्रचार, अनुरोध, तर्क और प्रेरणा द्वारा लोगों को कोई काम करने के लिए राजी किया जाता है, क्योंकि अन्त में लोग भी यह महसूस करने लगते हैं कि आज नहीं तो कल, या भविष्य में उस काम से उनका ही फायदा होगा। दूसरे तरीके में शुरुआत ऊपर से होती तो है, किन्तु वास्तव में निचली सतह पर ही सब कामकाज होता है; जबकि पहले तरीके में शुरुआत ज्यादातर ऊपर से ही होती है हालाँकि निचली सतह पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

जहाँ तक कारखानों की स्थापना का सवाल है, यह अपेक्षाकृत सरल मामला है—यानी नियोजन सरल है, यदि इसके लिए साधन मौजूद हों, तो फिर कोई कठिनाई नहीं। किन्तु कृषि की बात दूसरी है। कृषि सभी देशों में और विशेषकर भारत में बुनियादी चीज है। इसमें लोगों पर दबाव डालकर अधिक आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। लोकतांत्रिक ढाँचे में लोगों को उनका कर्त्तव्य जतलाना, उन्हें आत्मनिर्भर बनाना और काम करने के लिए उनमें जोश पैदा करना जरूरी है। इसीलिए मैं परिपाटीगत परिवर्तनों को काफी महत्त्व देता हूँ। मेरा मतलब ग्राम-पंचायतों, पंचायत समितियों, समिति पंचायतों, जिला परिषदों इत्यादि की स्थापना से है, जिससे सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो और विकास-कार्य तथा उन्हें पूरा करने की जिम्मेदारी सौंपी जाय, हालाँकि ऊपर से उन्हें सलाह मिलती रहेगी।

यह बुनियादी सांस्थानिक फेर-बदल है और मेरे ख्याल से यह ऊपर की सतह पर होने वाले फेर-बदल से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। मुझे पता चला है कि राजस्थान इत्यादि राज्यों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण से उल्लेखनीय परिणाम निकला है। आप जरा गौर कीजिए कि राजस्थान भारत में अपेक्षाकृत पिछड़ा राज्य है।

वहाँ जागृति के लक्षण नजर आने लगे हैं। वहाँ के पंच इत्यादि देखने में साधारण ही दीखते हैं, ऊपरी तौर पर कोई विशेषता नज़र नहीं आती; किन्तु जरा उनसे बात करके देखिए, तो पता चलेगा। उनमें आत्मविश्वास की भावना रहती है, किसी बड़े अधिकारी, मंत्री या किसी अन्य के साथ वे खुलकर बातें करते हैं और वे महसूस करते हैं कि उन्हें काम पूरा करना है। यह कर्तव्य और निष्ठा की भावना है।

इस फेर-बदल की प्रतिक्रिया को देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई और हम देश भर में यही करने जा रहे हैं। मेरे ख्याल से कृषि के क्षेत्र में इससे एक नया वातावरण पैदा होगा। इसके लिए ग्रामोद्योग, लघु उद्योग इत्यादि के लिए एक नये कर्मचारी वर्ग की स्थापना करनी है।

नयी सेवाएँ स्थापित करने और इसमें मेरी नाकामयाबी के बारे में शायद आपकी बहुत कुछ शिकायतें हैं। लोगों को संगठित करने या आगे बढ़ाने के लिए मैं काँग्रेस या किसी अन्य पार्टी के सदस्यों से सहयोग की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी ग्राम सतह पर नयी सेवाओं की स्थापना हो ही रही है। वे किसी खास पार्टी के कार्यकर्ता नहीं, मेरा मतलब ग्राम-सतह के कार्यकर्ताओं, खेतिहरों और किसानों से है, जिन्हें उचित प्रशिक्षण दिया जाता है। ग्राम-सतह के कार्यकर्ताओं के लिए पहले छः माह, १ वर्ष, फिर डेढ़ वर्ष और अब दो वर्षों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी है। उन्हें अधिक-से-अधिक संख्या में प्रशिक्षित किया जा रहा है और इस प्रकार वे पहले की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से काम कर सकेंगे। हमें बड़े भारी क्षेत्र में उनकी व्यवस्था करनी है। हमें हजारों ऐसे कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है और यह भी पूरी हो जायगी। अभी उनकी संख्या सीमित है, किन्तु फिलहाल हमें किसी प्रकार काम चलाना है। मुख्य बात तो यह है कि कुछ बड़ी योजनाओं को छोड़कर, जिनके लिए ऊपरी सहायता की आवश्यकता पड़ती है, करीब-करीब सभी विकास कार्यों की जिम्मेदारी हम इन ग्राम-संस्थाओं को सौंप रहे हैं। खण्ड-स्तर पर हम उनके लिए सहायता और सलाह के बतौर योग्य इंजीनियरों, पशुपालन-विशेषज्ञों, स्वास्थ्य एवं शिक्षा-कर्मचारियों की व्यवस्था करते हैं।

ऊपरी सतह पर परिपाटीगत अन्य फेरबदल भी हो रहे हैं। हालाँकि इसकी

गति धीमी है क्योंकि चलते चक्के जब तक स्थिर न हो जायं तब तक उन्हें रोकने में जिस प्रकार का खतरा है उसी प्रकार परिपाटी में यकायक भारी फेर-बदल करने में भी खतरा रहता है। नये परिवर्तनों से अधिकारी भी अछूते नहीं। हो सकता है कि हम काम को और अच्छी तरह तथा अधिक तेजी से कर सकते थे; किन्तु आखिर कुछ सीमाओं के भीतर ही हमें यह करना है।

प्र. : यह बिल्कुल सही है, श्रीमानजी। हम समझ सकते हैं की पिछले १२ वर्षों में सत्ता के हस्तान्तरण से हमारे इतिहास पर काफी असर पड़ा है। इस सिलसिले में भारत और चीन की क्रांति की तुलना करने पर यह मुख्य अन्तर मालूम पड़ता है कि चीनियों ने अतीत से पूरी तरह नाता तोड़ दिया, जबकि हमने अतीत को समग्र रूप से विरासत के रूप में स्वीकार कर लिया। यह जाहिर है कि भारत में सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तान्तरण के कारण प्रशासनिक ढाँचे को बदलने में उत्तराधिकारी सरकार की क्षमता सीमित हो गयी। क्या आप यह महसूस करते हैं कि आपको शुरू से ही अतीत की कई जिम्मेदारियाँ निभानी पड़ी और कई बहुत-सी बाधाओं का सामना करना पड़ा, विशेषकर प्रशासनिक व्यवस्था में?

उ. : इसके दोनों पहलू हैं—अच्छा भी और बुरा भी। मेरे ख्याल से हमारी 'सेवाएँ' आम तौर पर बहुत अच्छी हैं। मैं नीचे की श्रेणियों के बारे में यह नहीं कह रहा हूँ; क्योंकि पिछले कुछ वर्षों में उनकी संख्या में भारी वृद्धि हुई है और नये भर्ती किये गये कर्मचारियों को तो काफी प्रशिक्षण की जरूरत होती है; किन्तु आम तौर से हमारी 'सेवाएँ' अच्छी और कार्यकुशल हैं। इसमें मानव-तत्व में कुछ खामी नहीं, बल्कि खामी है उन तौर-तरीकों में जो हमें अतीत से विरासत के रूप में मिले हैं। मेरा और आपका तो दूसरा ही दृष्टिकोण है, यानी आधुनिक दृष्टिकोण, जो मेरे ख्याल से अधिक अच्छा और व्यापक दृष्टिकोण है, किन्तु पहले के अनेक पुराने व्यक्तियों का काम बड़ा अच्छा रहा है और अब वे समय के साथ बदल रहे हैं। वास्तविक कठिनाई तो पुराने पेचीदे तौर-तरीकों से पैदा हुई है। अंग्रेजों के साधारण शासनकाल में तो ये

कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं हुईं क्योंकि भारत के आर्थिक या सामाजिक कार्यों में उनकी विशेष दिलचस्पी थी ही नहीं; किन्तु हमें तो अब इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है और लगातार हम उनको सरल बनाने की कोशिश कर रहे हैं। मेरे ख्याल से हमें इसमें सफलता मिली है और आशा है कि आगे भी हमें कामकाज के तरीके को और भी अधिक सरल बनाने में सफलता मिलेगी। जादू की छड़ी तो है नहीं, जो एकदम सब कुछ हल हो जाय, यह सब तो धीरे-धीरे ही होगा।

सत्ता का हस्तान्तरण जिस रूप में हुआ है उससे इन वर्षों में कामकाज पर काफी प्रभाव पड़ा है, प्रभाव—अच्छा भी और बुरा भी। हमें दोनों को ही साथ रखना पड़ा, फिर भी आम तौर पर मैं महसूस करता हूँ कि यह भलाई के लिए ही हुआ। गांधीजी ने अवश्य ही तारतम्य के ही रूप में क्रांति की है, न कि अतीत से नाता तोड़ने के लिए। यह बड़ी अनोखी और महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि ज्यादातर पुरानी कड़ी तोड़ने और हिंसा के रूप में ही क्रांति की जाती है। सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तान्तरण स्थायित्व कायम करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है और बाद के इतिहास पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

७. संयोग का सिद्धांत

प्र. : आपने हमारी विरासत और विकास के बारे में जो कुछ कहा है उससे संघर्ष के सिद्धान्त के विरुद्ध संयोग के सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है। मेरा ख़्याल क्या सही है ?

उ. : ठीक है, संयोग का सिद्धान्त। गांधीजी हमेशा विरोधी तत्वों के बीच पुल बनाने और कड़ियाँ जोड़ने की कोशिश करते थे।

प्र. : व्यावहारिक सिद्धान्त के रूप में संयोग ठीक है, परन्तु वर्गों के मूलभूत विरोधों पर लागू करने में वह कुछ ठीक नहीं बैठता। उदाहरण के लिए, धनिकों और गरीबों के वर्ग-भेद के बीच पुल बाँधने का प्रयत्न गांधीजी ने ट्रस्टीशिप और ट्रस्ट के अनोखे सिद्धान्त के द्वारा किया था। यों कहूँ, उन्होंने भोले-भाले मेमने को शेर की ट्रस्टीशिप में लगभग सौंप ही दिया था। प्रश्न यह है : क्या आपने वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त के मुक़ाबले में वर्ग-संयोग के गांधीवादी हल को स्वीकार कर लिया है ?

उ. : वर्ग-संघर्ष तो हमेशा मौजूद है। उससे न इन्कार किया जा सकता है, न टाला जा सकता है। परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि उसका हल हिंसा या संघर्ष या नफ़रत वाला ही हो। और यहाँ आता है गांधीजी का शान्तिपूर्ण उपाय, दोस्ती का और रचनात्मक उपाय। जैसा मैं आपको बता चुका हूँ, मार्क्स अपने ज़माने से प्रभावित था जिसमें न लोकतंत्र था, न मताधिकार, न मज़दूर वर्ग का आन्दोलन और—यानी असमानताओं को मिटाने और समाज में समानता लाने के लिए संघर्ष के अलावा कोई चारा ही न था। वर्ग-विरोधों को हम अस्वीकार नहीं करते लेकिन इन संघर्षों को बढ़ाने के बजाय घटा कर और लोगों को लड़ने या मिटा देने की धमकी देने के बजाय उन्हें अपनी तरफ़ लाने की

कोशिश के द्वारा हम इस समस्या को शान्ति और सहयोग से सुलझाना चाहते हैं। गांधीजी शायद इस वर्ग-संघर्ष के पहलू को उसी रूप में नहीं देखते थे जिसमें आप या मैं देखता हूँ। परन्तु उनके सुलझाव के तरीक़े हमारे ज़माने और ख़ासकर हमारे देश के लिए अधिक उपयुक्त हैं। हमारा इतिहास और परम्परा यही रास्ता दिखाती है—यानी शान्तिपूर्ण, मैत्रीपूर्ण और सहयोगपूर्ण उपायों का लाभ।

वर्ग-संघर्ष और लड़ाई और ऐसे मामलों की तस्वीर में एक चीज़ और आती है। वह है अणु बम, और अणुशक्ति का रचनात्मक पहलू भी। एक तरफ़ अणु-शक्ति में मनुष्य की तरक्की की ज़बर्दस्त सम्भावनाएँ मौजूद हैं तो दूसरी तरफ़ अणु बम एक या दो या तीन धड़ाकों में सभ्यता को मिटा देने की धमकी भी दे रहा है। ऐसे विनाशकारी हथियार के निर्माण ने संघर्ष या युद्ध को—यह संघर्ष चाहे वर्ग-संघर्ष के रूप में हो चाहे पूँजीवादी-समाजवादी संघर्ष के रूप में—इतना भयंकर बना दिया है कि सुलझाव के उपायों में हिंसा की बात सोचना भी नामुमकिन है। इसलिए किसी भी दृष्टिकोण से देखें, इस ज़माने में जब कि कुछ राष्ट्र ही नही, गुट या व्यक्ति भी यह महान् प्रलयकारी अस्त्र प्राप्त कर सकते हैं, वर्ग-संघर्षों या युद्ध की विचारधारा बहुत भयानक हो जाने के कारण ही अतीत की चीज़ हो गयी है। इसलिए हमें संयोग, सहयोग, सह अस्तित्व और विकासशील समीकरण के गांधीवादी उपाय को ही स्वीकार करना और उसका पालन करना होगा।

प्र. : मैं समझता हूँ, नेहरूजी, कि यह आपने पंचशील यानी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के पांच सिद्धान्तों की, जिनके द्वारा आपने गांधीवाद की भावना के अनुसार अन्तरराष्ट्रीय विवादों को हल करने और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का पुनर्निर्माण करने के प्रयत्न किये हैं, उत्पत्ति बयान कर दी। अब मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आप गांधीवादी दृष्टिकोण के ऐसे निष्ठावान भक्त कैसे बन गये? प्रतीत होता है कि १९४० के दशक में आपका रुख़ तार्किक अनुचर से बदल कर एकनिष्ठ भक्त हो गया। आपने अभी अणु बम का ज़िक्र किया था। बात यह है क्या, कि इस विनाशकारी अस्त्र के निर्माण ने आपकी १९४०

से पूर्व की विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया ? या शायद गांधीजी की हत्या ने भावनात्मक रूप से आपको उनका एकनिष्ठ शिष्य बना दिया ?

उ. : मुझे मालूम नहीं। स्वयं का विश्लेषण करना मुश्किल होता है। अणु बम ने ज़रूर मेरे मानसिक दृष्टिकोण पर बहुत असर किया; लेकिन ठीक उस मानी में नहीं जिसमें आपने कहा है। परिवर्तन धीरे-धीरे हुआ। अणु बम निश्चय ही एक ज़बर्दस्त प्रभाव का एक प्रतिनिधि है—अपने भीषण परिणामों के कारण ही नहीं, बल्कि नयी शक्ति के विकास के कारण भी, वह ज़बर्दस्त शक्ति है जिसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी, और जो व्यक्ति की विचारधारा और दृष्टिकोण पर ज़रूर अपना असर करती है। भविष्य के बारे में और भविष्य में क्या होगा इसके बारे में किसी की भी विचारधारा को यह शक्ति बदल देती है।

अभी हम जिसकी बात कर रहे थे उस वर्ग-संघर्ष को लीजिए। वर्ग तो हैं ही और उनमें परस्पर संघर्ष भी है। उनके हितों में विरोध है। इसलिए संघर्ष शुरू होता है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। मुद्दे की बात यह है कि वर्ग संघर्ष को खत्म करने के लिए उसे तीव्र करना और हल करना चाहिए या संघर्ष के द्वारा मिटा देना चाहिए। मेरे मूलभूत विचारों में सबसे पहली बात यह है कि जहाँ तक सम्भव हो संघर्ष को हल करना और बचाना चाहिए। यह वर्ग-संघर्ष से इन्कार करना नहीं है, अपितु संघर्ष को छोड़कर दूसरे उपायों से वर्ग-विरोध को दूर करना है और हमारा दृष्टिकोण हमेशा से यही है : अणु बम या गांधीजी की हत्या के कारण नहीं, बल्कि यह तो मूलभूत चीज़ है।

मेरा विचार है कि कुछ हद तक हम इस उपाय को पुरअसर रूप में इस्तेमाल करने में सफल हुए हैं, चाहे यह राजाओं-महाराजाओं के मामले में हो, चाहे ज़मींदारों के। मैं यह नहीं सोचता कि हमने सब राजाओं-महाराजाओं का हृदय बदल दिया है; लेकिन वे कुछ ऐसी परिस्थितियों और दबावों से बँधे हुए हैं जो बराबर बढ़ते जा रहे हैं, जनता का दबाव, सरकार का दबाव। अतः उनसे समझौता करना अपेक्षाकृत रूप से सहज हो जाता है। इस रूप में हमने ज़मीदारी, बड़े बड़े-ज़मीदारों की व्यवस्था को समाप्त कर दिया है। हमने उन्हें मुआवज़ा दिया, लेकिन जिन स्तरों के वे आदी थे उनको देखते

हुए वह मुआवज़ा कुछ न था। उन्हें यह भाया नहीं और विरोध पैदा हुआ लेकिन वह बड़े संघर्ष का रूप लेने से पहले ही सुलझा दिया गया।

अब निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र के बीच विरोध हो रहा है; परन्तु मुझे विश्वास है कि वह भी शान्ति और सहयोग से सुलझा लिया जायगा।

यह सब गांधीवादी उपाय से किया जा सकता है। कभी-कभी विरोध खड़ा हो सकता है। वह अलग बात है। परन्तु वह कोई बड़ा संघर्ष नहीं है, सिर्फ स्थानीय है। इसलिए, यह मानते हुए भी कि एक वर्ग, एक खास तबक़ा मौजूद है, ऐसा तबक़ा जो दूसरे वर्गों, जैसे मज़दूर, किसान और बिचले दर्जों पर हावी है; और असमानताओं व भेदों को खत्म करने की वास्तविक इच्छा रखते हुए भी मैं यह नहीं मानता कि भेद-भाव पर ज़ोर देने और उन्हें संघर्ष से हल करने का तरीक़ा सही तरीक़ा है। अगर हम इस तरीके से देखते-भालते कामयाब हो भी जायें तो भी कुछ बदमज़गी पीछे छोड़ ही जायेंगे। दर-असल यह मामला साधनों और साध्य का है।

प्र. : तो गांधीवादी उपायों के प्रति आपका यह परिवर्तन अणु बम के द्वारा हिरोशिमा और नागासाकी के तबाह होने और इतिहास का रुख मोड़े जाने के पहले ही हो चुका था?

उ. : मेरा दृष्टिकोण हमेशा से संघर्ष के, खासकर हिंसात्मक संघर्ष के, खिलाफ़ है। लेकिन मैं मानता हूँ कि अणु बम ने यानी अणु-शक्ति ने जो दुनिया के हाथ में जबर्दस्त ताक़त दे रखी है, जीवन का संदर्भ ही बदल दिया, भविष्य की सम्भावनाएँ बदल दी हैं। इसलिए पुराने सब सिद्धान्तों को, वे चाहे आर्थिक हों या और किसी भी विषय के हों, इस नयी पृष्ठभूमि में फिर से जाँचना होगा। सबसे पहले तो युद्ध की सम्भावना के संदर्भ में सोचना होगा, जिसमें अब लगभग महानाश का अंदेशा हो गया है।

प्र. : इसीलिए आप सह-अस्तित्व पर जोर देने लगे हैं?

उ. : सह-अस्तित्व तो हमेशा से क़ायम है।

प्र. : १९४० के दशक के भी पहले से?

उ. : स्वाभाविकतया, यह तो हमेशा ही क़ायम था; दरअसल अशोक और बुद्ध के ज़माने से क़ायम है। गांधीजी ने इसे साधनों और साध्य के मामले में शामिल कर दिया। यदि मैं कहूँ, तो यह बात भारतीय विचारधारा का एक अंग ही है जो जियो और जीने दो की पोषक है। मैं यह नहीं कहता कि भारतीय फ़रिश्ते हैं, फिर भी भारतीय विचारधारा श्रेष्ठ है। सो यह सह-अस्तित्व का सिद्धान्त हमारे इतिहास से आविर्भूत हुआ है, हालाँकि आज के हालात, जिनमें लड़ाई का अर्थ हो सकता है मानव-जाति का पूर्ण विनाश, इस सिद्धान्त का जबर्दस्त समर्थन करते हैं।

८. राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय सह-अस्तित्व

प्र. : अब हम आते हैं स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय इतिहास के सबसे शानदार अध्याय पर—यानी अपनी विदेशनीति पर जो तटस्थता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर आधारित है। आपने हमारे मूलभूत दृष्टिकोण और दर्शन की ऐतिहासिक गति का जो विश्लेषण किया है उसमें हमारी शानदार गतिविधियाँ बिलकुल ठीक बैठती हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि एक ओर जब रूस और अमरीका के सम्बन्धों में सुधार हुआ है और उनका शिखर सम्मेलन होने वाला है और हमारी विदेश नीति को इतिहास ने उचित ठहराया है, तब दूसरी ओर भारत-चीन व भारत-पाकिस्तान विवाद के कारण इस नीति के आधार को ही सन्देहास्पद माना जाने लगा है।

उ. : कोई अच्छी नीति सिर्फ इसी कारण खराब नहीं हो जाती कि एक बेचैन और आक्रामक पड़ौसी के मामले में वह कुछ कठिनाइयों में आ गयी है। यह तो उसकी परीक्षा मात्र है और हमें विश्वास है कि वह इस चुनौती पर विजय प्राप्त कर सकेगी।

प्र. : आपने काठमांडू में हाल में एक भाषण में पूछा था : पंचशील कहाँ है? उस भाषण में आपकी ध्वनि कुछ निराशावादी लगती थी। नेहरूजी, क्या आप पंचशील को खो बैठे हैं या कहीं भूल गये हैं?

उ. : नहीं, कतई नहीं। पंचशील बेहतर और ठोस सिद्धान्त है और अन्तर-राष्ट्रीय आचरण का एकमात्र बुद्धिमत्तापूर्ण मार्गदर्शक है। मेरा मतलब था कि इतने बढ़िया सिद्धान्त की बातें तो बहुत की जा रही हैं; लेकिन व्यापक रूप से उसका पालन नहीं हो रहा है।

प्र. : सच है। चीन के इस अभियोग का हमारा जवाब क्या है कि भारत-चीन विवाद का कारण यह है कि भारत ने तिब्बत के प्रश्न पर चीन से किये गये पंचशील समझौते को भंग किया, यानी तिब्बत को चीन का प्रदेश मान लेने के बाद हम जहाँ तक तिब्बत का सम्बंध है, उसके घरेलू मामलों में दखल देते रहे?

उ. : हमने तिब्बत में दखल नहीं दिया, न वहाँ विद्रोह को उकसाया और न कोई ऐसा इरादा है हमारा। हमारी कोशिश सिर्फ इतनी रही है कि दोस्ताना तरीक़े से चीनियों पर अपने असर का इस्तेमाल करें ताकि सुधार के काम वे आहिस्ता-आहिस्ता करें और दमन से दूर रहें। हमने उन्हें यह विश्वास कराने का प्रयत्न किया कि तिब्बतवासियों को अच्छे कम्यूनिस्ट बनाना नामुमकिन है और यह कि सुधार चाहे जितने ज़रूरी हों वे ठीक तभी हो सकते हैं जब समझा कर और शिक्षा के द्वारा लागू किये जायें, न कि ज़ोर-जबर्दस्ती से। क्या इसे हस्तक्षेप कह सकते हैं? हम इस बात पर उनसे सहमत हैं कि विद्रोह को कुचल देना चाहिए, लेकिन दमन दूसरी चीज़ है। उससे संकट पैदा होता है और वह उफन कर दलाई लामा तथा शरणार्थियों के साथ हमारे देश में पहुँच जाता है।

तिब्बत चीन का भाग है लेकिन श्री चाउ ने खुद मुझसे कहा था, कि वह चीन का सूबा नहीं है और न उसके साथ सूबे का सा व्यवहार किया जायगा, और यह कहा था कि तिब्बत के लोग चीनी नहीं हैं, चीनी लोगों से जुदा हैं और इसलिए पीकिंग सरकार तिब्बत को चीन का स्वायत्त प्रदेश मानेगी और वैसा ही बर्ताव करेगी।

यह ठीक है कि तिब्बत पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, कोई स्वार्थ नहीं है, न हम ऐसा कोई दावा करते हैं। परन्तु साथ ही यह भी सच है कि तिब्बत हिन्दुओं और बौद्धों के लिए पवित्र भूमि है और इस कारण भारत की चेतना का अंग बन गया है। यह राजनीतिक नहीं; बल्कि मानसरोवर और बौद्ध विहारों, बौद्ध धर्म और दलाई लामा के प्रति हमारा आध्यात्मिक तथा भावनात्मक लगाव है। और इन पर जब ज़ोर-जबर्दस्ती या हिंसा का उपयोग होता है तो हमारी जनता में उसकी ज़बर्दस्त भावनात्मक प्रतिक्रिया होती है और कोई भी सरकार इसकी तरफ़ से निष्क्रिय नहीं रह सकती।

तिब्बत के लोग ज़रूर पिछड़े हुए हैं, सामन्तवादी हैं, और शायद समझाने से आसानी से मानने वाले नहीं होंगे—यह सब माना; लेकिन क्या ऐसे लोगों पर उनकी रज़ामन्दी के बिना और समझाए-बुझाए बग़ैर, कोई सुधार लादे जा सकते हैं? इससे भावात्मक विरोध और भौतिक संघर्ष ही पैदा होता है।

प्र. : मेरा खयाल है कि यहीं ज़बर्दस्त सुधार करने और समझा-बुझा कर सुधार लागू करने के विभिन्न उपायों की परीक्षा होती है। केवल जिज्ञासा की दृष्टि से क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यदि श्री नेहरू चीन के प्रधान मन्त्री होते तो इन परिस्थितियों में क्या करते?

उ. : मेरी दृष्टि से असली मुश्किल यह है कि तिब्बत के लोगों और चीनियों के बीच समझ-बूझ का पुल नहीं है। ऐसा पुल यानी मानसिक और भावात्मक कड़ियाँ किस तरह बनानी चाहिएँ। इस बीच मैं कम्यूनिज़्म की बात भूल जाऊँगा, सुधार लागू करने की रफ़्तार धीमी रखूँगा और सबसे पहले आपसी समझ-बूझ पैदा करने की कोशिश करूँगा। मैं तिब्बत के लोगों को अपने सुधारों की गति खुद क़ायम करने के लिए प्रेरित करूँगा और उनकी सामाजिक व राष्ट्रीय भावनाओं को अधिक-से-अधिक सम्भव मान्यता दूँगा; इस बात को ध्यान में रखते हुए कि तिब्बत सदियों से विकास और शेष संसार से अलग-थलग एक द्वीप की तरह रहता आ रहा है।

हर हाल में तिब्बत के लोग चीनियों से भिन्न जाति के हैं। इतिहास की दृष्टि से चीन और तिब्बत एक तरह के अनन्त संघर्ष में रत हैं। क्या आपको मालूम है कि ऐसे भी दौर आये हैं जब चीन पर तिब्बत का कब्ज़ा रहा है, और जब चीन का तिब्बत पर अधिकार रहा है तब भी खुद चीनियों पर लामाओं का बहुत काफ़ी आध्यात्मिक प्रभाव रहा है?

पीकिंग और ल्हासा के बीच की खाई पर पुल बनाने के लिए इन ऐतिहासिक, जातीय और धार्मिक तथ्यों को तथा मौजूदा मानसिक और भावात्मक दीवारों को समझना ज़रूरी है। हमने स्वाभाविकतया कोशिश की कि दोनों के बीच ऐसी समझ-बूझ पैदा हो। इसे हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकता।

प्र. : तिब्बत के झगड़े से यह तो निश्चय ही प्रतीत होता है कि आपका दृष्टिकोण सही है। परन्तु इसका हल क्या है?

उ. : हल मेरे ख़्याल से यह है कि तिब्बत को चीनी राज्य में स्वायत्त शासन सौंपा जाय। ऐतिहासिक, धार्मिक और भावात्मक तथ्यों के अलावा तिब्बत की भूमि ऐसी है कि उस पर कब्ज़ा करना या उपनिवेश बनाना असम्भव है।

प्र. : श्रीमानजी, मैंने अब तक भारत की विदेश नीति पर आपसे कोई प्रश्न नहीं किया है, क्योंकि मैं समझता हूँ कि उसकी न आलोचना की जा सकती है, न कोई सन्देह किया जा सकता है। मेरा ख़्याल है कि हमारे देश के अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन में आपकी प्रतिभा अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रकट हुई है; क्योंकि जो विदेश नीति आपने बनायी है वह हमारे इतिहास, भूगोल, धर्मों, संस्कृतियों व अन्य परम्पराओं तथा आज की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को पूरी तरह प्रतिबिम्बित करती है। उसके प्रमुख सिद्धान्त सभी को ज्ञात हैं—शक्ति-गुटों से अलग, यानी तटस्थता; स्वतंत्रता के आन्दोलनों का पूर्ण समर्थन, ख़ासकर एशिया और अफ्रीका में; साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और जातिवाद का विरोध; शीत युद्ध या सशस्त्र युद्ध की रोक-थाम के लिए शान्ति के क्षेत्र का क्रमशः विस्तार; तथा विश्व शान्ति को कायम रखना और मानवीय स्वतंत्रता का विस्तार करना। हाल में ही मैं इस विषय में एक प्रमुख अमरीकी आलोचक से विचार-विनिमय कर रहा था। आइसनहावर और खुश्शेव जो शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के अनुसार यदि आचरण नहीं तो विचार तो करने ही लगे हैं, इस विषय में आपके व्यक्तिगत प्रयत्नों की उसने बड़ी प्रशंसा की और फिर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही। उसने कहा : यह बहुत महत्त्व की बात नहीं है कि श्री नेहरू शिखर सम्मेलन में भाग लेते हैं या नहीं, क्योंकि हर हाल में उनकी विचारधारा इस सम्मेलन पर छायी रहेगी और अदृश्य रूप में वे इस सम्मेलन के नैतिक अध्यक्ष रहेंगे। इस संदर्भ में, यदि आप संसार को परेशान करने वाली समस्याओं के हल पर प्रकाश डालें तो मैं बड़ा आभार मानूँगा।

उ. : इस शिखर सम्मेलन तथा इसके नैतिक और अदृश्य अध्यक्ष आदि

की चर्चा करके आपने मुझे संकोच में डाल दिया है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी ऐसी कोई मंशा नहीं है। यह समय के अनुरूप है कि हम भारतवासियों ने अपने देश की परम्परागत पृष्ठभूमि और स्वभाव के उपयुक्त विदेश नीति का विकास किया है और यह नीति मौजूदा इतिहास की माँग के भी उपयुक्त है। इसी से उसे वह शक्ति प्राप्त हुई है जो हमारी आर्थिक और सैनिक शक्ति से परे है। और यह हमारा सौभाग्य है कि पश्चिमी एशिया, दक्षिणी एशिया तथा दूर पूर्व के बीच हम अत्यंत महत्त्व के स्थान पर अवस्थित हैं। अतः कुछ ऐसी अन्तरराष्ट्रीय जिम्मेदारियाँ हम पर हैं जिनसे हम बच नहीं सकते और हम उन्हें अपनी सामर्थ्य के अनुसार निबाहने की पूरी-पूरी कोशिश करते हैं। यह सब तो है ही, इसके अलावा मेरा विश्वास है कि जो विचारधारा और सिद्धान्त हमने अशोक, गांधीजी व अन्य महान् विचारकों व शासकों से विरासत में पाये हैं—जियो और जीने दो, अहिंसा, सहिष्णुता तथा सह-अस्तित्व की विचारधारा—वही हमारे ज़माने की समस्याओं का एक मोटा व्यावहारिक हल प्रस्तुत करती है।

प्र. : पंचशील की विचारधारा?

उ. : विभिन्न देशों, धर्मों और आदर्शों के प्रति शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और अ-हस्तक्षेप की विचारधारा। इस नीति के ऐतिहासिक अनुभव का कुछ लाभ हमें प्राप्त है। यह नीति मूलभूत रूप में शान्ति, सहकार और रचनात्मक प्रयत्न की नीति है और मैं कहूँ तो इस समय के बहुत ही उपयुक्त है; जबकि अणु अस्त्रों ने सैनिक उपायों और युद्ध को सुलझाव के रूप में पूर्णतया अमान्य कर दिया है। इसलिए जिन मुश्किलों, उत्तेजनाओं और संघर्षों में कुछ देश फँसे हुए हैं उनको हल करने के कुछ उपाय जैसी चीज़ हमारे पास है। यह कहना तो अवास्तविक होगा कि भारत के पास कोई जादू का मंत्र है जो सब मुश्किलों को दूर कर देगा; परन्तु मानव समाज के सदस्य के नाते हम पर यह ज़िम्मेदारी आती है कि ऐसे कदम सुझाएँ जो अन्तरराष्ट्रीय तनावों को घटा सकें और अन्त में संघर्ष के कारणों और स्रोतों को ही खत्म कर सकें।

प्र. : बिल्कुल सही है; तो वह कौनसा कदम है जो आप पेश करना चाहेंगे?

उ. : यह क़दम, इतना कार्यवाही का नहीं है जितना मानसिक दृष्टिकोण का है, और दृष्टिकोण सैनिक या शीत युद्ध का नहीं बल्कि शान्ति का, और उसके पीछे आयें उसके उपयुक्त राजनीतिक और आर्थिक नीतियाँ। हमारे विचार से पंचशील—शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के पाँच सिद्धान्त—सही दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इस पंचशील को अन्तरराष्ट्रीय आचरण के नियम के रूप में लागू करने के लिए मानसिक और हार्दिक परिवर्तन की आवश्यकता है। तभी उसमें वास्तविकता आयेगी और वह सफल होगी।

सबसे पहले इस तथ्य को समझना चाहिए कि हाल की वैज्ञानिक और टेक्निकल खोजों ने तथा अणु और परमाणु अस्त्रों के आविष्कार ने लड़ाइयों को अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के उपाय के रूप में पूर्णतया समाप्त कर दिया है। कारण, आज युद्ध का अर्थ है कि किसी राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह को तो कुछ हासिल होगा नहीं और सारी मानवता का अन्त हो जायगा। जब, लड़ाई कारगर नहीं है, तो उसके साथ की शीत युद्ध जैसी अन्य चीज़ें भी मानव के विचारों और हृदयों से निकाल देनीं चाहिए। इसके बाद युद्ध-जैसी धमकियाँ और स्थितियाँ समाप्त करनीं चाहिए। औरों से हमारे मतभेद चाहे हों; लेकिन राजनीतिक नारेबाज़ी, आदर्शों की निन्दा, कड़वी आलोचना जैसी चीज़ों में पड़ने से कुछ हासिल नहीं हो सकता। जिन विचारों को हम नापसन्द भी करते हों, अगर वे हमारे रास्ते में न आते हों, तो उन्हें हमें स्वीकार करना चाहिए। हमें समझना चाहिए कि आधी दुनिया बाक़ी दुनिया को बुरा-बुरा कहती रहे, तो यह निरर्थक बात ही है। धार्मिक लड़ाइयों के पुराने युग में ऐसी चीज़ हुआ करती थीं। फिर इन विशिष्ट धर्मों के आपसी संघर्ष ख़त्म हुए और सहिष्णुता व सह-अस्तित्व की एक नयी भावना का विकास हुआ। आज कोई कारण नज़र नहीं आता जिससे कि विरोधी आदर्श तथा आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्तों का साथ-साथ विकास न हो सके और वे न साथ-साथ जिएं न एक दूसरे को जीने दें। मेरा विश्वास है कि हमारा संसार जिस टेक्नोलोजी की क्रान्ति से गुज़र रहा है उसने इस आदर्शों के

संघर्ष को बीते ज़माने की चीज़ बना दिया है। शीत युद्ध के नारों में फँसे हुए लोग इस तथ्य को पहचान नहीं पाते। इसलिए ज़रूरी यह है कि दृष्टिकोण बदला जाय।

प्र. : क्या आपको यह परिवर्तन होता जान पड़ता है, नेहरूजी?

उ. : परिवर्तन होता है। हमेशा होता रहता है। अमरीका और रूस को ही लीजिए। मैं हमेशा से कहता आया हूँ कि इन दो महान शक्तियों के बीच इतनी अधिक समानता है कि यह शीत युद्ध का सारा मामला पूर्णतया अवास्तविक और कृत्रिम है। यदि दोनों एक बार बातचीत शुरू कर दें जैसा कि उन्होंने किया है, तो दस वर्षों की सन्देह और भय की तबाहियाँ साफ़ हो जायँगी, और समझौते के मुद्दे दृष्टिगोचर होने लगेंगे। उन्हें शायद पता लगेगा कि मतभेद के विषय वास्तव में महत्त्वहीन थे और शीत युद्ध की दुर्घटना और बरबादी बिलकुल ग़ैर-ज़रूरी रूप में हुई। जब वे इस तथ्य को समझ जायेंगे, जिसे कि मैं आधारभूत मानता हूँ, तो उनके दिल और दिमाग़ से सन्देह और भय दूर हो जायेंगे। ये ही लड़ाइयों के कारण और स्रोत हैं। समझ-बूझ और सहिष्णुता इनका स्थान ले सकेगी। जहाँ यह हुआ तो निरस्त्रीकरण, अणु अस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबंध आदि सब चीज़ें भी पीछे-पीछे आ जायँगी। इसमें मुझे जरा भी शक नहीं है।

अब जर्मनी को लीजिए। शिखर सम्मेलन में व अन्य स्तरों पर यही विवाद का मुख्य विषय जान पड़ता है। शान्ति हो चाहे लड़ाई या और कुछ, जर्मन लोग संगठन के मामले में अत्यन्त ही योग्य हैं। और मैं जानता हूँ कि मित्र राष्ट्र स्वयं जर्मनी से, इतिहास की पुनरावृत्ति से, एक और युद्ध होने की आशंका से काफ़ी भयभीत हैं। यह भय वास्तविक है। जब मैं इस बात को प्रकट करता हूँ तो मुझे ज्ञात होता है कि दूसरा पक्ष सोवियत संघ द्वारा आक्रमण किये जाने के भय से पीड़ित है। यह सब भय और सन्देह की मानसिक अवस्था है जो मुझे ऐसे क़दम उठाने की प्रेरणा देती है, जिन्हें उठाने में हम डरते हैं। इसलिए संसार को इस बुराई से मुक्त करना ही मुख्य कार्य होना चाहिए।

ये समस्याएँ और संकट एक-दूसरे के ऊपर मौजूद हैं, लेकिन अगर सही रास्ता इख़्तियार किया जाय तो इन्हें हल किया जा सकता है—यानी सैनिक धमकियों और संघर्ष, शक्ति के मोर्चों और ऐसी चीज़ों से नहीं; बल्कि दो बातों को ख़्याल में रखते हुए शान्ति और सहकार के तरीक़े से। और वे दो बातें ये हैं: एक तो लड़ाई को ग़ैरकानूनी ठहरा देना चाहिए और दूसरे, सब विवादों को शान्ति के साथ बातचीत से सुलझाना चाहिए। इसके लिए, निश्चय ही, सह-अस्तित्व की आवश्यक परिस्थितियाँ बनानी होगी। जैसा कि मैं बारबार कहता हूँ, सशस्त्र युद्ध करना शान्ति नहीं है; सारे संसार में तनावों को घटाने और शान्ति का वातावरण बनाने का प्रयत्न करना ही शान्ति है।

प्र. : क्या मैं पूछ सकता हूँ कि ऐसा नया वातावरण बनाने के लिए भारत क्या कर रहा है?

उ. : विरोधी दलों के बीच पुल बनाना और कड़ियाँ जोड़ना और साथ ही शान्ति के क्षेत्र का विस्तार करना—हमेशा से यह हमारी नीति है।

प्र. : सह-अस्तित्व की कड़ियाँ और पुल?

उ. : जी हाँ, हम हमेशा सह-अस्तित्व की सिफ़ारिश करते हैं—सह-अस्तित्व राष्ट्रीय क्षेत्र में और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में। यह सह-अस्तित्व है क्या? यह मानसिक और आध्यात्मिक स्थिति है जो मतभेदों और विरोधों का आपस में संयोग कराती है; विभिन्न धर्मों, आदर्शों, तथा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं को समझने और उनसे समझौता करने की कोशिश करती है; तथा संघर्ष व सैनिक तरीकों की बात सोचती तक नहीं। हमारे इस देश में, जो इतना विशाल है, जिसमें इतने विभिन्न धर्म हैं, भाषाएँ हैं, विचार व रीतियाँ है, सह-अस्तित्व राष्ट्र के रूप में हमारे जीवित रहने के लिए ही बिल्कुल ज़रूरी हो गया है। शायद यही कारण है, अनुभव-जन्य ऐतिहासिक कारण है जो हमें मजबूर करता है कि अन्तरराष्ट्रीय तनावों और विवादों के लिए सहिष्णुता का मार्ग अपनाने की सिफ़ारिश करें।

प्र. : इससे मुझे एक विचार आया और यही शायद इस विवाद का भी उत्तर है कि अंग्रेज़ों को अपने देश से हटाने के बाद हमने राष्ट्रमंडल से सम्बंध क्यों बनाये रखा। क्या यह उत्तर सह-अस्तित्व की विचारधारा में और उसके पुल बनाने व कड़ियाँ जोड़ने के पहले सिद्धान्त में निहित नहीं है?

उ. : राष्ट्रमंडल निश्चय ही शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना से प्रेरित स्वतंत्र एवं बन्धन-हीन संगठन है, ऐसा पुल या कड़ी जो विभिन्न राष्ट्रों को सहयोग और दृढ़ता के उद्देश्य से परस्पर मिलाती है। अधिक बन्धनों वाली संधियों या गुटों की अपेक्षा ऐसा सम्मिलन श्रेयस्कर है। हम तो राष्ट्रमंडल से अपने संयोग को इस नज़र से देखते हैं कि स्वतंत्र राष्ट्र किसी सैनिक या अन्य बन्धनों के बिना ही आपस में संयोग करें। यह सब अच्छी फ़ायदे की चीज़ है।

प्र. : कामना हम सबकी यही है। ऐसी आशंका प्रकट की जाती है कि राष्ट्रमंडल से हमारे सम्बंध एशिया और अफ्रीका के स्वतंत्र राष्ट्रों का नेतृत्व करने के हमारे मार्ग में बाधा बन सकते हैं और दक्षिणी, पश्चिमी व मध्य अफ्रीका में जो जातीय और फासिस्ट धाराएँ पनप रही हैं उनके प्रति हमारे विरोध को भी कदाचित् दुर्बल कर सकते हैं?

उ. : ऐसी कोई बाधाएँ हमारे सामने नहीं है। जैसा कि आप शायद जानते ही हैं, मैंने स्वयं लन्दन में बैठकर दक्षिण अफ्रीकी जातीय भेद-भाव की निंदा और विरोध किया है। अफ्रीका की स्वतंत्रता और जातीय समानता के प्रति हमारा समर्थन अत्यन्त स्वाभाविक है और हमारे इतिहास की देन है। हम किसी देश पर न अधिकार करना चाहते हैं न नेतृत्व करना चाहते हैं, परन्तु आज के इतिहास का जो सबसे बड़ा सत्य है उससे अप्रभावित नहीं रह सकते—वह सत्य है एशिया का पुनर्जागरण। इस महान् घटना से हम प्रभावित होते हैं, क्योंकि हम भी इसके अंग हैं, इस आन्दोलन और क्रान्ति के ही नहीं बल्कि भूगोल के भी अंग हैं, क्योंकि हिन्द महासागर के बीचो-बीच होने के कारण हम इन दो महाद्वीपों के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान पर स्थित हैं। और अब चूँकि हम स्वतंत्र हो गये हैं तथा अनेकानेक देश उपनिवेशवाद से छुटकारा पा रहे हैं इसलिए

स्वाभाविकतया हम परस्पर निकट आ रहे हैं और पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया एवं अफ्रीका के भी देशों से अपने पुराने सम्बंधों को फिर से क़ायम कर रहे हैं।

राष्ट्रमंडल से हमारा सम्बंध इस ऐतिहासिक परिणाम में रुकावट नहीं डालता। उल्टे मैं तो कहूँगा कि उससे इसमें सहायता मिलती है। आख़िर यह ब्रिटिश राष्ट्रमंडल या ऐसी कोई चीज़ तो है नहीं। यह नाम ही साम्राज्यवादी संगठन का खंडन करता है। और अगर आप राष्ट्रमंडल को आबादी या राष्ट्रों की ही दृष्टि से देखें तो नव-स्वतंत्र अफ्रीकी राष्ट्र और एशियाई राष्ट्र इस संगठन में अधिकाधिक सम्मिलित हो रहे हैं। यह बहुत फ़ायदेमन्द है, बहुत ही फायदेमन्द।

प्र. : इस अध्याय के अन्त में, नेहरूजी, मैं कहूँ कि जवाहरलाल नेहरू संसार की आबादी के सातवें भाग के प्रिय नेता तो हैं ही और इस रूप में आपने हमारी विदेश नीति के मामले में बहुत कुछ कहा और किया है। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में दोहरा काम कर रहे हैं : एक तो अन्तरराष्ट्रीय सह-अस्तित्व के प्रतीक के रूप में और दूसरे, स्वतंत्रता के प्रेरक तथा श्री ख्रुशोव के यानी साम्यवादी संसार में ही स्टालिन-विरोधी तत्वों के मित्र के रूप में। क्या आप इस विश्लेषण से सहमत हैं?

उ. : आप मुझसे यह उम्मीद तो नहीं करेंगे कि मैं अपने ही बारे में बातें करूँ?

प्र. : मुझे खेद है। मैं यह प्रश्न दूसरे रूप में रखूँ। स्वतंत्रता के इन वर्षों में भारत की घरेलू प्रगति के बारे में अपने विचार आपने काफ़ी कष्ट उठा कर मुझे बताये हैं। यदि ऐसा ही विवेचन आप हमारी विदेश नीति व उसकी सफलताओं और असफलताओं का भी करें तो मैं आभार मानूँगा।

उ. : इस प्रकार के विषय पर निश्चित रूप में कुछ भी कहना कठिन होता है। मसलन्, अन्तरराष्ट्रीय तनाव को घटाने और जहाँ भी सम्भव हो वहाँ शान्ति का वातावरण क़ायम करने के लिए हम लगन से कोशिश कर रहे हैं।

कोरिया और इंडोचीन में तथा स्वेज़ के मामले में भी हमने वार्ता के द्वारा संघर्ष को समाप्त करने में कुछ योग दिया था। जहाँ तक शीत युद्ध में जुटी हुई बड़ी शक्तियों का सम्बंध है, हमने कोशिश की है कि वे अपनी-अपनी लीक से बाहर निकल कर दूसरे पक्ष के दृष्टिकोण को समझें। और मेरा ख़्याल है कि हमने कुछ सफलता पायी है कम्यूनिस्ट और ग़ैर-कम्यूनिस्ट शक्तियों को यह बताने में कि दुनिया में सिर्फ़ गोरे और काले, दो ही रंग नहीं हैं; भूरे रंग भी तमाम जगह फैले हुए हैं। इसलिए यह ज़रूरी नहीं है कि हम एशिया वाले किसी एक गुट या आदर्श से गठबंधन करके ही रहें। एक तीसरी विचार-धारा के लिए भी स्थान है यहाँ, इस शान्ति के क्षेत्र के लिए जिसे हमने दोनों संघर्ष रत गुटों के बीच क़ायम करने और बढ़ाने का प्रयत्न किया है; इसने एक प्रकार के पुल का काम किया है। देखिए, ख्रुशोव यहाँ आये और उन्होंने देखा कि दुनिया में एक ऐसा भी ग़ैर-कम्यूनिस्ट हिस्सा है जो उन्हें स्वीकार करने और उनसे सहयोग करने को तथा साम्यवादी संसार से वैसा ही बर्ताव पाने को तैयार है। जब आइसनहावर आये, तो उन्होंने देखा कि तटस्थ होते हुए भी हमारा देश मैत्रीपूर्ण है। इससे शायद दोनों आदर्शों की तेज़ धारों को कुण्ठित करने में कुछ मदद मिली है।

और निश्चय ही, हमारी विदेश नीति की असफलताएँ व क्षणिक रुकावटें भी हैं। पाकिस्तान से हमारे सम्बंध ख़राब थे; लेकिन अब सुधर रहे हैं। अब चीन भी इस तस्वीर में आ गया है और सीमा का विवाद उठ खड़ा हुआ है। गोवा और पुर्तगाल भी हैं। लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम इन विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के लिए तत्पर हैं।

प्र. : और इससे हम बाक़ी दुनिया के सामने एक मिसाल क़ायम करेंगे ?

उ. : मैं नहीं कह सकता। अन्त में विदेश नीति घरेलू हालात और मामलों पर निर्भर करती है। इसलिए अगर हमें अन्तरराष्ट्रीय मामलों में प्रभावशाली भाग लेना है तो आन्तरिक दृढ़ता व आर्थिक मज़बूती अनिवार्य हैं।

९. नेहरू के बाद क्या ?

प्र. : अन्त में, नेहजी, मैं आपसे कुछ व्यक्तिगत सवाल पूछना चाहता हूँ। इससे आप संकोच में पड़ सकते हैं, परन्तु वे ऐसे मामलों से सम्बंधित हैं जिनसे आप जैसा महान व्यक्ति बच नहीं सकता। आपके आलोचकों का कहना है कि श्री नेहरू अब बूढ़े हो गये हैं और थक गये हैं, जिन्हें परिस्थितियों ने बुराइयों से समझौता करने को मजबूर कर दिया है, जिनका रुख अब यह है कि जब तक मैं ज़िन्दा हूँ तब तक जैसे भी चले वैसे चलाऊँ और मेरे उठ जाने के बाद चाहे जो हो, मेरी बला से। यह कहने का मेरा तरीक बहुत बेढंगा है; लेकिन यह सवाल कि "नेहरू के बाद कौन या क्या?" तो वैसा का वैसा क़ायम है। क्या इस पर आप कुछ कहेंगे?

उ. : दरअसल मेरा ख़्याल है कि यह सवाल ही ग़लत है, बिल्कुल ग़लत; तो मैं इस पर कह ही क्या सकता हूँ?

प्र. : यह ठीक हो सकता है; लेकिन आपके जीवनी-लेखक फ्रैंक मोरेस इसी नाम की एक पुस्तक लिख रहे हैं?

उ. : हो सकता है, हो सकता है, लेकिन फिर भी ग़लत है इस तरह से सोचना। एक पत्रकार आगे देखने और भविष्य की घटनाओं को देखने का प्रयत्न कर सकता है। हर आदमी की तरह वह भी अटकलें लगाने को आज़ाद है; लेकिन यह "नेहरू के बाद कौन?" का मामला, अगर वह किसी व्यक्ति से सम्बंधित है तो बिल्कुल ग़लत है और मूर्खतापूर्ण है। और अगर वह आज की या आगे आने वाली परिस्थितियों से सम्बंधित है तो आप इसे एक प्रकार की उचित वर्ज़िश कह सकते हैं।

प्र. : बिल्कुल सही है। क्या आप भी इस वर्ज़िश में भाग लेने की कृपा करेंगे?

उ. : इस मानी में नहीं, क्योंकि मैं नहीं समझता कि इससे कुछ फ़ायदा होगा, क्योंकि मैं कुछ व्यक्तियों को चुन कर उन्हें तालीम देने के पक्ष में नहीं हूँ। स्वाभाविकतया मैं चाहता हूँ कि सही लोग तैयार हों, परन्तु उत्तराधिकारी तैयार होने के मानी में कुछ नहीं कर सकता। मैं इस तरह के तर्क को समझ ही नहीं सकता। अगर मैं किसी को अपना उत्तराधिकारी नामज़द करने की कोशिश भी करूँ, तो उससे क्या हासिल होगा? जनता के लिए इस नामज़दगी का कोई महत्त्व नहीं होगा और अगर लोग मेरी पसन्द को स्वीकार भी कर लें तो भी हालात रास्ते में रुकावट डाल सकते हैं।

प्र. : लेकिन गांधीजी ने आपको अपना उत्तराधिकारी नामज़द किया था। नहीं किया था क्या?

उ. : यह सही है कि दो-तीन बार गांधीजी ने मेरे बारे में कुछ कहा था। लेकिन मैं कहूँ कि मुझे एक विशेप स्थान पर गांधीजी की सिफ़ारिश ने नहीं पहुँचाया। ये तो वे तमाम परिस्थितियाँ थीं जो बीस-तीस वर्षों से चली आ रही हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन से मेरे सम्बन्ध से सम्बंधित हैं, देश में और आज़ादी के संघर्ष में मेरे काम के सम्बंधित हैं—इन सबने मुझे इस स्थिति पर पहुँचाया, यद्यपि गांधीजी के आशीर्वाद ने भी जनता के विचारों को प्रभावित किया था। निस्सन्देह किया था।

इसलिए बात यह नहीं है कि मैं किसी को उत्तराधिकारी नामज़द करूँ या किसी व्यक्ति को तैयार करूँ। असली प्रश्न यह है कि आज की बदलती हुई परिस्थितियों में हम अपने विकास का ठोस आधार बनाने में कहाँ तक कामयाब हुए हैं। अगर ऐसा ठोस आधार है, लोकतंत्रात्मक आधार, धर्म-निरपेक्ष और समाजवादी आधार यानी हमारे आदर्शों और विचारों के लिए गहरा, ठोस और विश्वस्त आधार—तो मुझे इसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं है कि नेता कौन है, नेतृत्व कौन सम्हालता है? आधार की आवश्यकता ही सब-कुछ है :

क्योंकि उसके बिना कोई चीज़ नहीं रहती जिस पर कि कुछ बनाया जा सके। कुछ किया ही नहीं जा सकता।

प्र. : बहुत सच है। हम चूँकि बहुत महत्त्व के विषय पर बात कर रहे हैं, इसलिए मैं क्या पूछ सकता हूँ कि सही दिशा में भारतीय विकास के लिए तथा हमारी राष्ट्रीय नीतियों के जारी रहने के लिए निश्चित रूप में आप किस बात को ठोस आधार मानते हैं ?

उ. : सबसे पहले तो बालिग़ मताधिकार सहित लोकतांत्रिक व्यवस्था यानी संसदीय लोकतंत्र की स्थापना। दूसरे, मेरे ख़्याल से हमारे लोकतंत्र का धर्म-निरपेक्ष आधार। फिर, आर्थिक विकास का ठोस आधार, पंच वर्षीय योजनाएँ, औद्योगीकरण और भारी उद्योग—ख़ासकर मशीनें बनाने वाले उद्योग, हमारी अर्थ-व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर मज़बूत सार्वजनिक क्षेत्र का अधिकार, और स्वयं विकसित होने वाली स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था की नींव। आप यह भी कह सकते हैं कि क्रमिक आर्थिक समीकरण और सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित समाज का समाजवादी रूप।

प्र. : धन्यवाद। क्या आपको विश्वास है कि ऐसा आधार क़ायम किया जा चुका है ?

उ. : यह तो अनुमान की बात है। तथापि ऐसा आधार बराबर क़ायम हो रहा है। साथ ही साथ अलगाववादी और विध्वंसक प्रवृत्तियाँ भी काम कर रही हैं। आख़िर यह देश, भारत इस समय एक पूरी शताब्दी का प्रतीक बना हुआ है। आप यह तक कह सकते हैं कि २० वीं सदी में भी कुछ क़बायली लोगों के सम्बंध में यह पाषाणयुग का प्रतिनिधित्व कर रहा है! भारत उन सामाजिक आकांक्षाओं का भी प्रतिनिधि है जो धीरे-धीरे विकास पा रही हैं। आप इन्हें दक्षिणपंथी, वामपंथी या मध्य-पंथी, कुछ भी कहें, प्रगतिवादी कहें या जड़वादी या साफ़-साफ़ प्रतिक्रियावादी। ये शब्द भी पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं कर सकते। परन्तु भारत में कुछ तत्वों के अस्तित्व के प्रति सावधान रहना आवश्यक है—यानी फ़ासिस्ट तत्वों से। वे चाहे फ़ासिस्ट शब्द का प्रयोग न

करें, परन्तु उनका दृष्टिकोण वही है। ये तत्व सत्ता प्राप्त करने के लिए अव्यवस्था या विच्छिन्नता या ऐसी किसी भी परिस्थिति का उपयोग करना चाहेंगे। यह सब सच है। हम इसमें कुछ कर नहीं सकते। हम ऐसी कोई बात न होने देने की व्यवस्था की बात ही सोच सकते हैं। अब, ऐसी व्यवस्था क्या हो सकती है? उत्तर है: उचित आधार। यदि यह चीज़ मौजूद हो तो देश के साथ कोई खिलवाड़ नहीं कर सकता।

पाकिस्तान को लीजिए—मैं पाकिस्तान का ज़िक्र सिर्फ़ मिसाल के तौर पर कर रहा हूँ, आलोचना नहीं कर रहा हूँ—इतने वर्षों से पाकिस्तान में ऐसा कोई आधार नहीं रहा। वहाँ के लोग हमारी ही तरह अच्छे हैं, परन्तु भारत और पाकिस्तान में मुख्य भेद यह रहा: भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता, जिन्होंने आज़ादी के आन्दोलन में हिस्सा लिया था और इस संघर्ष की बदौलत लोगों को पहचान गये थे, वे स्वाभाविकतया जनता से सम्पर्क बना सके और इसके फलस्वरूप उन्होंने लोगों की सामाजिक व आर्थिक आकांक्षाओं के अनुरूप सामाजिक नीति बनायी। दूसरी ओर, पाकिस्तान में जो लोग नेता बने उनका आज़ादी के आन्दोलन से कोई सम्बंध नहीं रहा था। मोटे तौर पर वे शुरू से ज़मीदार वर्ग के प्रतिनिधि थे। इसलिए सरकार किसी भी परिवर्तन के पक्ष में नहीं थी। वह कुछ लोगों के निहित स्वार्थों की रक्षा करने की इच्छुक थी। उनका कोई लोकप्रिय आधार न था—सिवाय भारत-विरोधी आधार के।

अतएव, यद्यपि भारत और पाकिस्तान ने प्रारम्भ एक ही आधार से किया, यदि एक ही आधार से नहीं तो लोग तो एक ही थे; फिर भी दोनों के आधारों के अन्तर बढ़ते गये। जनता वही है, परन्तु पाकिस्तान की जनता और नेताओं के बीच कोई सम्पर्क नहीं रहा। कोई नेता लोकप्रिय हो या न हो, मैं किसी व्यक्ति की लोकप्रियता की बात नहीं कर रहा, मैं नेताओं और जनता के बीच आधारभूत सम्पर्क पर ज़ोर दे रहा हूँ। और कोई कुछ भी कहे, भारत में यह सम्पर्क क़ायम है और हमारी अनेकानेक कमज़ोरियों, असफलताओं और ख़ामियों के बावजूद राष्ट्र को विश्वास और शक्ति प्रदान कर रहा है। अतएव

उत्तराधिकार व नीतियों के जारी रखने आदि बातों के बारे में व्यक्तियों की चिन्ता मुझे नहीं है। मैं हमेशा अच्छे व्यक्ति चाहता हूँ। मुझे हमेशा उनकी तलाश रहती है। मेरे दृष्टिकोण से विशाल राष्ट्रीय, लोकप्रिय आधार बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

१०. आगामी कल की चुनौती

प्र. : मुझे याद है कि आपने कहीं कहा है कि अशोक, अकबर और गांधी जैसे महान भारतीयों की महानतम सिद्धियाँ उस तरीक़े में निहित हैं जिससे कि उन्होंने विभिन्न धर्मों और आदर्शों में समन्वय करवाया, और (यह भी कहा है कि) अब भी भारत को हमारे इस ज़माने के संघर्षों में समन्वय कराने का श्रेय प्राप्त हो सकता है। क्या आप बतायेंगे कि हम यह सिद्धि किस प्रकार प्राप्त करेंगे ?

उ. : मैंने जब यह बात कही थी तब मैं अपनी स्वयं की या भारत की मौजूदा पीढ़ी की बात नहीं कर रहा था, बल्कि भविष्य की एक सम्भावना की बाबत सोच रहा था। साथ ही मैं यह कहूँगा कि हमने संसार को यह बताने का कुछ काम किया है कि एक ओर पूँजीवाद या पूँजीवादी लोकतंत्र तथा दूसरी ओर कम्यूनिज्म की विरोधी विचारधाराओं में से किसी का भी उत्पादन व वितरण के प्रमुख विषयों पर दृष्टिकोण का एकाधिकार नहीं है। एक तीसरा मार्ग भी है जो सब मौजूदा व्यवस्थाओं—रूसी, अमरीकी व अन्य—की अच्छाइयों को लेकर ऐसी व्यवस्था बनाने का प्रयत्न करता है जो देश विशेष के इतिहास और विचारधारा के अनुरूप हो।

उदाहरण के लिए, लगभग सारा संसार आज समझ रहा है और सराहना कर रहा है आर्थिक क्षेत्र के हमारे प्रयत्नों की, यानी लोकतंत्रवादी ढंग के समाजवाद के मातहत हमारे आयोजन की। इसने एशिया व अफ्रीका के विकास के लिए एक नयी रूपरेखा बनायी है और इसमें एक अहम बात यह है कि दोनों ही पक्षों के अर्थशास्त्री व अन्य विशेषज्ञ, खासकर पश्चिम के जहाँ कि आर्थिक आयोजन प्रचलित नहीं है, हमारी विकास योजनाओं और प्रगति में बहुत दिलचस्पी ले रहे हैं। हम इस विषय में बहुत सोच-विचार कर

रहे हैं, और बड़े पैमाने पर बहुत व्यवस्थित विचार के साथ इस काम को कर रहे हैं। इसी बात से भारत एक ऐसा क्षेत्र बन जाता है जिस पर इन दो परस्पर विरोधी आदर्शवादी शक्तियाँ एकमत हैं। गर्वोक्ति किये बिना हम दावा कर सकते हैं कि हमारा ही एक मात्र ऐसा कम विकसित देश है जो इस कार्य को विशाल रचनात्मक पैमाने पर अंजाम दे रहा है।

प्र. : तो यह निष्कर्ष निकालना सही होगा कि आपके सार्वजनिक जीवन के पचास वर्षों में भारत ने जो प्रगति की है, उस पर अपने जीवन के इस संध्याकाल में दृष्टि डालने के बाद राष्ट्र के प्रति आपका विश्वास, जनता के प्रति और भविष्य के प्रति आपकी आशा, हमेशा की तरह आज भी दृढ़ है?

उ. : इस प्रश्न का उत्तर बहुत-कुछ आपके इन शब्दों पर निर्भर है: विश्वास और आशा। आज मेरे जीवन के संध्याकाल में भी ये उतने ही दृढ़ हैं जितने पहले थे। मुझे समस्त भारतीय जनता पर सामूहिक रूप में हमेशा ही अटूट विश्वास रहा है। मैं उन्हें डाँटता हूँ, फटकारता हूँ। बार-बार यह करता हूँ। परन्तु मेरा विश्वास है कि उनमें गुण हैं, चरित्र है, एक मूलभूत सांस्कृतिक परम्परा है जिससे वे कर्मशील बने हुए हैं। मै जन-जन की बात कर रहा हूँ, कुछ गिने-चुने व्यक्तियों की नहीं। वे चाहे रूढ़िवादी हों, औद्योगिक विधियों में पिछड़े हुए हों। इसमें वे सुधार कर सकते हैं, नयी बातें सीख सकते हैं। परन्तु उनके पास एक और चीज़ बहुत महत्त्व की है और वह है चरित्र का एक विशेष गुण जो मेरे ख़्याल से उनके लिए और हमारे लिए बहुत काम का है।

जहाँ तक मेरी बात है, उनके साथ सम्पर्क करने से मुझे बहुत शक्ति और सहारा मिलता है। अगर कोई उन्हें थोड़ा सा प्रेम या सहायता देता है तो वे उसका भरपूर बदला चुका देते हैं।

अब मेरे आशावाद को लीजिए। मूलतः म आशावादी हूँ और एसा कोई कारण कभी मेरे सामने नहीं आया जिससे मुझे इसमें परिवर्तन करना पड़ता। जब कोई आदमी कोई काम करता है, तो वह काम प्रधान मन्त्री का हो या कुछ

और, उस काम को वह एक तो मशीन की तरह पुरानी लकीर पीट-पीट कर कर सकता है, जो बहुत फ़ायदेमन्द नहीं होता। काम तो सभी करते हैं। अस्सी-नब्बे फ़ी सदी मशीन की तरह होते हैं। परन्तु काम करने वाले को काम के प्रति जागरूक होना चाहिए। मेरा मतलब है उसमें यह भावना होनी चाहिए कि जो कुछ वह कर रहा है वह इस काबिल है कि नाकामियों और नाउम्मीदियों के बावजूद किया जाय। अपने काम के प्रति आदमी में रोमांचक भावना होनी चाहिए। जहाँ यह भावना गयी कि आदमी बस मशीन बना। मशीन अच्छी हो सकती है; लेकिन उस चीज़ का फ़ायदा क्या है जिसमें न दिल हो न आत्मा हो, न विश्वास हो न खुशी हो?

जहाँ तक मेरा सम्बंध है, मैं अपने को न बूढ़ा महसूस करता हूँ, न थका हुआ न निराश, क्योंकि जो काम मैं करता हूँ उसके प्रति मुझे एक हर्ष, उत्तेजना और साहस की भावना की अनुभूति होती है। लेकिन ध्यान रखिए ऐसा मैं अपने हर काम के बारे में महसूस नहीं करता। कभी-कभी बड़ी निराशा भी घेरती है, परन्तु अधिकांश में भारत तथा भारत की जनता जिन परिवर्तनों से गुज़र रही है उनके काम में मुझे ऐसी ही अनुभूति होती है। देश के परिवर्तनों और सारी जनता के आन्दोलनों को देखने से मुझे हमेशा ही बहुत प्रेरणा मिलती रही है।

प्र. : आपके मुँह के इन अत्यन्त उत्साहवर्द्धक शब्दों को रिकार्ड करने में मुझे बड़ी खुशी है, और अब मैं समझ सकता हूँ कि आम ज़बान में ७० वर्ष का बूढ़ा कहाने वाला व्यक्ति हमेशा कैसे इतना नौजवान और प्रफुल्ल बना रहता है। इससे भविष्य के प्रति ज़बर्दस्त उम्मीद बँधती है। अब भविष्य के विषय में केवल एक अन्तिम प्रश्न है : औद्योगिक क्रान्ति और हमारे वैज्ञानिक व तंत्रज्ञान के युग के विषय में आपके विचार मैंने जान लिये हैं, परन्तु इधर हम बातें कर रहे हैं और साथ ही उधर स्पुटनिक तथा लुनिक हमें अन्तर्नक्षत्रीय सफलताओं एवं अन्तरिक्ष के विजय के मार्ग पर ले जा रहे हैं। मै यह जानना चाहता हूँ कि इन कल्पनातीत सिद्धियों के प्रति आपकी मानसिक **प्रक्रिया क्या है?**

उ. : यह एक आश्चर्यजनक और उत्तेजक सम्भावना है, जो मानव के विचारों में एक नया पहलू जोड़ रही है, और एक प्रकार से मुझे खेद है कि मैं उसे देख नहीं सकूँगा, उसमें हिस्सा नहीं ले सकूँगा। दुनिया आज ज़बर्दस्त परिवर्तनों से गुज़र रही है। कोई यह नहीं जानता कि जीवशास्त्र और भौतिकशास्त्र सम्बंधी कैसी उथल-पुथल आगे आने वाली है, लेकिन याद रखने की अहम बात यह है कि इन असाधारण परिवर्तनों ने सामाजिक परिवर्तन की ज़रूरत को पहले से ज्यादा बढ़ा दिया है। विज्ञान अन्तरिक्ष में पहुँच रहा है परन्तु मानव समाज रूढ़िवादी विचारधाराओं से चिपटा हुआ है। इससे बहुत गम्भीर अ-समन्वय पैदा होगा। विकसित देशों में तो यह होने भी लगा है।

साथ ही, मेरा अनुमान है कि जैसे-जैसे विज्ञान मानव की गतिविधि में रद्दोबदल करेगा वैसे-वैसे सामाजिक और आर्थिक ढाँचे भी बदलते जायेंगे। आम तौर से स्वरूप अपने कार्य के अनुरूप बदलता जाता है। इसलिए हम यही कामना करें कि जैसे-जैसे सभ्यता विज्ञान के साथ प्रगति करेगी वैसे वैसे वह आचरण के नये तौर-तरीक़ों में, सामूहिक जीवन की नयी शक्लों में एक नया आधार बनायेगी और संयोग व समन्वय की एक विस्तृत तथा सहिष्णुतापूर्ण विचारधारा पैदा करेगी। कम से कम यह उम्मीद तो हम करें ही कि इन्सान और इन्सान, राष्ट्र और राष्ट्र के बीच की मौजूदा असमानताएँ तथा अन्तर धीरे-धीरे मिट जायेंगे जिससे संघर्षों और लड़ाइयों का प्रमुख कारण ख़त्म हो जायगा। लगता है कि दुनिया आज इंसानी ज़िन्दगी में एक नया पहलू, एक नया संतुलन खोज रही है। आध्यात्मिक गहराई और नैतिक शक्ति वाला परिपूर्ण मानव ही नये ज़माने की चुनौतियों का मुक़ाबला कर सकेगा। आध्यात्मिक संतुलन से रहित भौतिक प्रगति विनाशकारी हो सकती है। मनुष्य अपने उद्देश्य का ज्ञान गँवा बैठेगा और इन्सान नहीं रहेगा, 'रोबट' (यांत्रिक मानव) बन कर रह जायगा।

इन नयी खोजों के एक पहलू के प्रति मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है। इन खोजों ने यह अनिवार्य कर दिया है कि मनुष्य अपने दिमाग़ को लड़ाई, संघर्ष और हिंसा के ख़्यालों से फेर कर शान्ति, सह-अस्तित्व और सहयोग के

दृढ़ संकल्प की तरफ़ लगाये। सहिष्णुता, करुणा और बुद्धिमत्ता के जिस दर्शन का उपदेश भगवान् बुद्ध ने २००० वर्ष पहले दिया था वह आज हमेशा से ज्यादा आवश्यक हो गया है। अन्तरराष्ट्रीय सम्बंधों में सैनिक विचारधाराएं या सैनिक सुलझावों का पूर्णतया परित्याग करना ही होगा। सब तरह के अणु परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने और क्रमशः निरस्त्रीकरण करने का प्रस्ताव तुरन्त और सर्व-सम्मति से मंजूर किया जाना चाहिए।

प्र. : मैं उम्मीद करता हूँ कि शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाली बड़ी शक्तियाँ हमारे ज़माने की स्पष्ट चेतावनी को समझेंगी और उसपर ध्यान देंगी। आपकी सलाह की बुद्धिमत्ता भारतीय विचारधारा और दर्शन से प्रस्फुटित हुई है। अतः आप बताएंगे कि विज्ञान और तंत्रज्ञान ने जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं उनके संदर्भ में भारत की क्या स्थिति है?

उ. : शान्ति, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की विचारधारा भारतीय विचार और दर्शन के अनुरूप है, और जैसा मैं कह चुका हूँ, आन्तरिक एवं अन्तरराष्ट्रीय मामलों में हमारे लिए इसके सिवा कोई रास्ता नहीं है। अणुशक्ति, जेट शक्ति, राकेट-तंत्र और अन्तरिक्ष-यात्रा ने पिछले बीस-तीस वर्ष में इस तेज़ी से तरक्क़ी की है कि वे मानव जीवन के सारे संदर्भ को ही बदले दे रहे हैं। टेक्नोलोजी तो बहुत आगे बढ़ गयी है और राजनीति पिछड़ गयी है।

इसलिए गुज़रे ज़माने के विचारों और मौजूदा ज़माने की वास्तविकताओं के बीच की खाई को पाटना सबसे बड़ी समस्या है। हम हिन्दुस्तान वाले कई चीज़ों में ज़माने से पिछड़े हुए हैं। लेकिन जिस औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप और अमरीका की शक्ल बदली वह भारत में भी आयेगी। आने भी लगी है। लेकिन उसके पीछे आ रहा है टेक्नोलोजी और विज्ञान का पैदा किया हुआ एक और भी तेज़ नया इनक़लाब। इसलिए एक तरह से हम तीन अलग-अलग दौरों में एक साथ तरक्क़ी कर रहे हैं। कोई यह नहीं जानता कि नतीजा क्या होगा! भौतिक प्रगति तो होगी ही, लेकिन क्या यही काफ़ी है? इन ज़बर्दस्त भौतिक परिवर्तनों की चुनौतियों का मुक़ाबला करने के लिए हमें नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति चाहिए। शक्ति और सत्ता ज़बर्दस्त चीज़ें हैं

लेकिन इनमें आध्यात्मिकता नहीं है। ये आध्यात्मिकता-शून्य हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार प्रस्तुत करना होगा उस मानव को जो इस शक्ति और सत्ता का उपयोग करेगा।

मेरे कहने का अर्थ है कि आदमी के हाथों में यह ताक़त अच्छे काम के लिए भी इस्तेमाल हो सकती है और बुरे के लिए भी। उसका इस्तेमाल बुरे रास्ते पर न हो इसकी एक मात्र गारंटी है मानव का नैतिक स्तर। प्रश्न यह है कि मानव इन ज़बर्दस्त ताक़तों पर अधिकार और नियंत्रण करेगा या ये ताक़तें इन्सान और सभ्यता का विनाश करने के लिए मानव पर हावी हो जायँगी!

यह एक वजह है कि मैं उस शान्ति की परम्परा के महत्व पर ज़ोर देना चाहता हूँ जिसे कि गांधीजी ने कार्य-प्रणाली के व्यावहारिक एवं प्रभावशाली दर्शन के रूप में पुनरुज्जीवित किया। जहाँ और सब जगह असमन्वय के वे ख़तरे मौजूद हैं जो टेक्नोलोजिकल सभ्यता के अनुरूप बनने में मानव समाज की असफलता से पैदा होते हैं, वहाँ भारतीय समाज के लिए ये ख़तरे और भी भयानक हैं; क्योंकि हमारा समाज आम तौर से रूढ़ियों और पुरातन विचारों का अभ्यस्त है। फिर भी, हमारी सहिष्णुता और करुणा की शानदार परम्परा हमारे साथ है और यह हमें हमारी सभ्यता के संकटों से पार करा सकती है।

इस मामले का एक पहलू और है जिसने हिटलर और मुसोलिनी के अभ्युदय-काल से मुझे कुछ चिन्ता में डाल रखा है। विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो नयी ताक़त दी है उसे छोड़ दीजिए; मुझे ताज्जुब इस बात पर है कि हिटलर जैसा आदमी प्रचार की विकसित प्रणालियों की मदद से, दुष्टतापूर्ण लक्ष्यों की सिद्धियों के लिए जनता का पूर्ण सहयोग कैसे प्राप्त कर सका! इस कारण से तानाशाही, नियंत्रण और निरंकुशता के आभास से भी मुझे नफ़रत है। अब ये प्रचार के तरीक़े मामूली तौर पर लेकिन ख़तरनाक रूप में, आम व्यापारिक विज्ञापनों में भी प्रवेश कर रहे हैं। भारत में नहीं, अमरीका व दूसरे मुल्कों में। लेकिन वे तरीक़े यहाँ भी आ सकते हैं। मानव के अवचेतन मस्तिष्क का शोषण करने की इनकी शक्ति की, जिसका कि ज़िक्र

एल्डूस हक्सले ने अपनी "ब्रेव न्यू वर्ल्ड" और "ब्रेव न्यू वर्ल्ड रीविज़िटेड" पुस्तकों में किया है, सम्भावनाएँ बहुत ख़तरनाक हैं। और यह कोई नहीं जानता कि मानवजाति के लिए इनका नतीजा क्या होगा।

तो ये सब तथ्य हैं जो मानवीय अनुभव के लिए बिल्कुल नये हैं। ये दरअसल हमें एक ऐसी दुनिया में ले जा रहे हैं जिसके बारे में हम बहुत कम या कुछ नहीं जानते। इस चुनौती का सामना करने के लिए हम इतना ही कर सकते हैं कि गुज़रे ज़माने से जो सिद्धान्त और विचार हमने विरासत में पाये हैं, ख़ासकर वे सिद्धान्त तथा विचार जो संघर्ष और हिंसा की सिफ़ारिश करते हैं, उनका हम परित्याग कर दें, और भौतिक समृद्धि के साथ मानव के आध्यात्मिक और नैतिक चरित्र का विकास करें, ताकि परिपूर्ण मानव का विकास हो। इसी तरीक़े से हम आने वाले कल की परीक्षाओं में कामयाब हो सकते हैं।

BIBLIOGRAPHY

By Jawaharlal Nehru

Autobiography (London, John Lane, The Bodley Head, Ltd., 1936; New York, John Day, 1941, under the title *Toward Freedom*).

The Discovery of India (Calcutta, Signet Press, 1946; New York, John Day, 1946).

Eighteen Months in India (Kitabistan, 1938).

Glimpses of World History (London, Lindsay Drummond, Ltd., 1939; New York, John Day, 1942).

India and the World (London, George Allen & Unwin, Ltd., 1936).

Mahatma Gandhi (Signet Press, 1949).

Soviet Russia (Chetana, Bombay, 1929).

Towards a Socialist Order (Indian National Congress, 1955).

The Unity of India (London, Lindsay Drummond, Ltd., 1941; New York, John Day, 1942).

Speeches and Biographical Sources

A Study of Nehru (A volume published on the Prime Minister's 70th Birthday, November 14, 1959), edited by Dr. Rafiq Zakaria (Times of India, Bombay).

Jawaharlal Nehru—a Political Study, by Michael Brecher (Oxford, London, 1959).

Jawaharlal Nehru, by Frank Moraes (The Macmillan Company, New York, 1956).

Independence and After, a collection of more important speeches from September, 1946, to May, 1949 (Government of India, 1949 ; New York, John Day, 1950).

Jawaharlal Nehru's Speeches 1949-53 (Government of India, 1954).

Speeches in America (New Delhi National Bookstall, 1950).

Visit to America (New York, John Day Company, Inc., 1950).

Prime Minister Jawaharlal Nehru in China (Embassy of the People's Republic of China, New Delhi, 1955).

Speeches of Bulganin and Khrushchev in India (Tass in India, 1956).

Jawaharlal Nehru Press Conferences 1952 (Information Service of India, 1955).

Nehru Abhinandan Granth (A volume presented to the Prime Minister on his sixtieth birthday, November 14, 1949).

Nehru Your Neighbour, edited by P. D. Tandon (Signet Press, 1946).

Talks with Nehru, by Norman Cousins (New York, John Day Company, Inc., 1951).

So I Became a Minister, by Vijayalakshmi Pandit (Kitabistan, 1939).

With No Regrets, by Krishna Hutheesing (Padma Publications, Bombay, 1944).

Prison and Chocolate Cake, by Nayantara Sahgal (New York, Alfred A. Knopf, Inc., 1954).